कालजयी एक पुरुष

अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी का व्यक्तित्व और रचना संसार

डॉ० गंगानारायण त्रिपाठी

साहित्य भवन [प्रा] लिमिटेड
के.पी. कक्कड़ रोड, इलाहाबाद-२११००३

भूमिका

भारतीय इतिहास में दानवीर कर्ण की भाँति अपना सर्वस्व दान कर, अक्षय कीर्ति प्राप्त करने वाले स्वर्गीय गणेश शंकर विद्यार्थी देव-पुरुष थे। उन्होंने अपने दिव्य गुणों से मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए साहित्य, राजनीति और समाज की नवीन परिभाषाएँ देकर एक क्रान्तिकारी क्षेत्र-मण्डल का निर्माण किया था। जिस प्रकार एक सुरभित सुमन अपने विकास की पूर्णता प्राप्त किए बिना ही देवता के श्री चरणों मे समर्पित हो जाता है, उसी प्रकार श्री विद्यार्थी जी अपनी समस्त विभूतियों को राष्ट्रीयता की अंजुली में सजाकर मातृभूमि की बलि-वेदी पर असमय ही समर्पित हो गये। यह उनका सौभाग्य था, किन्तु हमारा और देश का दुर्भाग्य था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की परम्परा में श्री विद्यार्थी जी ने हिन्दी को जनता के मनोविज्ञान के समानान्तर बनाते हुए, पत्रकारिता का जो आदर्श स्थापित किया था, वह अपने समय के साहित्यिक प्रतिमानों से बहुत ऊँचा था। यदि उनके द्वारा प्रवर्तित वह हिन्दी-शैली शास्त्रीयता के आघातों से कुंठित न होती, तो उसे जन-जन की भाषा बनाने में तथा साहित्य को समुन्नत करने में जो सुविधा प्राप्त होती, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। पत्रकारिता की परिधि में उन्होंने देश की प्रत्येक समस्या का—दलित व्यक्तियों की पीड़ा का, अन्याय से शोषित मानवता का, शक्ति और साहस की ओजस्विनी कर्तव्यनिष्ठा का, जो शंख-घोष किया था, वह इस सम्पूर्ण देश में गूंजता रहा। देश ही नहीं, संसार के कोने-कोने में कभी आशंका से, कभी भय से, कभी उत्साह से और कभी आवेश के साथ यह शंखनाद सुना गया। वह पत्रकारिता का साबर मन्त्र था क्योंकि उसके उद्घोषक गणेश शंकर थे।

श्री गणेश शंकर विद्यार्थी ने राष्ट्रीयता और साहित्य में जिन नवीन क्षेत्रों को उद्घाटित किया उन पर अभी तक सही परिप्रेक्ष्य में विचार ही नहीं किया गया। यदि यह कहा जाये कि उनकी प्रतिभा का वास्तविक मूल्यांकन राष्ट्रीयता और साहित्य के विकास में नहीं हो पाया है तो यह असंगत नहीं होगा। जिस सीमा तक उन्होंने पत्रकारिता तथा राष्ट्रीयता के आदर्श को पहुँचा दिया था, उस सीमा तक उसकी परीक्षा तक नहीं हो सकी। यह स्थिति साहित्य और राष्ट्रीयता के लिए एक चुनौती बनी रही कि उसके द्वारा विद्यार्थी जी की प्रतिभा और योगदान का यथावत् मूल्यांकन किया जाय।

डॉ० गंगानारायण त्रिपाठी गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर में हिन्दी विभाग में न केवल एक सफल प्राध्यापक हैं किन्तु जागरूक साहित्यकार भी हैं। उन्होंने श्री विद्यार्थी जी के व्यक्तित्व का अनुशीलन न केवल उनके ग्रन्थों से वरन् उनकी पत्रकारिता के सभी रूपों से प्राप्त किया है। विद्यार्थी जी की पत्रकारिता के माध्यम से डॉ० त्रिपाठी ने उनके मनोविज्ञान की गहराई तक पहुँचने की चेष्टा की है जिससे उनकी राष्ट्रीयता और वैचारिकता के स्रोतों और उत्सों से परिचय प्राप्त किया जा सके। इन्हीं के द्वारा विद्यार्थी जी की सहानुभूति न केवल इस देश की पराधीन जनता के प्रति अभिव्यक्त हुई, संघर्षशील रही वरन् उन भारतीयों के प्रति भी निरन्तर प्रकट होती रही, जो प्रवासी होकर नृशंस अत्याचारों से दंशित और पीड़ित होते रहे।

निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि श्री विद्यार्थी जी के व्यक्तित्व और साहित्यिक कृतित्व को उनकी पत्रकारिता के माध्यम से समक्ष कर प्रस्तुत करने का जैसा प्रयास डॉ० त्रिपाठी ने किया है वैसा अभी तक हिन्दी क्षेत्र में नहीं हो सका था। मैं उनकी इस कृति का स्वागत करता हूँ और हिन्दी-जगत् में उचित आदर प्राप्त करने के लिए अनुशंसित करता हूँ। उनके द्वारा इसी प्रकार की मूल्यवान सामग्री हिन्दी साहित्य को प्राप्त होती रहे, यही मेरी आकांक्षा और आशीर्वाद है।

२५ मार्च, १९८६ — डॉ० रामकुमार वर्मा

अनुशंसा

काल विजित एवं कालजयी पुरुष

काल पर विजय प्राप्त करने की आकांक्षा बड़ी पुरानी है। भारतीय सभ्यता, संस्कृति, साहित्य और धर्म में ऐसे प्रयासों, आकांक्षाओं विचारों का प्रतिबिम्ब है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति ने समुद्र-मंथन से कालजयी अमृत-घट निकाल लिया। ययाति ने काल चक्र को उल्टा घुमाने का प्रयास किया। वृद्धावस्था से यौवन में वापस आने का प्रयास किया। असंख्य लोककथाओं में मृत व्यक्ति के फिर से जी जाने का उल्लेख मिलता है। सभी बड़े साधु-सन्तों के चमत्कारों में मृतक को पुनर्जीवित करना जोड़ा जाता है। संजीवनी बूटी की खोज में न जाने कितने लोग भटकते रहे।

अमरत्व की तलाश के इस तरह के कई उदाहरण हैं, जो नये सुबह की सभ्यता और संस्कृति में मिल सकते हैं। आधुनिक विज्ञान ने भी इस खोज को बरकरार रखा है। वैज्ञानिक खोजों और विकसित किये जा रहे नये तकनीकों के मूल में जिन्दगी और मौत दोनों से जुड़ी हुई कोशिश की सफल झलक है।

इन सब सपनों, आकांक्षाओं, गाथाओं और वैज्ञानिक प्रयासों के बावजूद काल अविजित है। मानव काल द्वारा विजित है, इस कठोर सत्य के परिप्रेक्ष्य में हम किसी महापुरुष की महानता की नाप करने के लिए उसे कालजयी कहते हैं।

डॉ० त्रिपाठी जी ने इसी तरह से अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी को कालजयी कहा है। उनके लिए यह विशेषण मुझे बड़ा अच्छा लगा और उपयुक्त भी। पुस्तक के इस नाम या विद्यार्थी जी के इस विशेषण को सामने रखकर मैंने त्रिपाठी जी के इस रोचक एवं अत्यन्त उपयोगी पुस्तक की पांडुलिपि पढ़ना प्रारंभ किया। पढ़ते समय मैंने यह आकलन करने की कोशिश की कि विद्यार्थी जी को कालजयी कहना कहाँ तक समीचीन है।

मेरा सीधा सा निष्कर्ष है कि विद्यार्थी जी कालजयी नहीं काल विजित हैं। इसे मेरी धृष्टता न समझी जाय। प्रश्न केवल परिभाषा का ही नहीं है, असल मुद्दा सम्भवतः दृष्टि का है। आप क्या देख रहे हैं? कहाँ से देख रहे हैं? इस पर दृष्टिकोण में अंतर आना स्वाभाविक है। मुझे लगता है महानता की नाप कालजयी होने में नहीं काल से विजित होने में है। यह कहना कि समय और युग की सीमाओं को तोड़

कर जिनके विचार, जिनका व्यक्तित्व, जिनका प्रभाव चिन्तन और निरन्तर चलता रहता है, उसे हम कालजयी कहते रहे हैं, क्योंकि वे समय और युग की सीमाओं को लाँघ कर, इस पर विजय प्राप्त कर अपने सशक्त व्यक्तित्व या महान् विचार की ज्योति जलाते रहते हैं। इसी अर्थ में हम बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, गुरुनानक और महात्मा गाँधी को कालजयी कहते हैं।

ये सब महापुरुष मेरी समझ में काल विजित हैं क्योंकि उनकी पूजा आवश्यक होती है, उनके प्रति श्रद्धा-सम्मान और आदर की कोई कमी नहीं है। अब प्रश्न है कि उनके आदर्शों और सद्गुण उनकी महानता और मानवता का कितना अंश काल की सीमाओं को लाँघ कर आज के जीवन में पहुँच सका है। सभी राष्ट्रभक्त और पत्रकार विद्यार्थी जी के प्रति अथाह सम्मान व्यक्त करते हैं पर आज की पत्रकारिता, आज की राजनीति, आज के जीवन में उनके विचार उनके आदर्श किस सीमा तक जुड़े हैं? गाँधी जी के आदर्शों की बात हम हर नीति, हर कार्यक्रम, हर समारोह में जोड़ देते हैं। पर आज उनके आदर्शों के अनुकूल आचरण कहाँ करते हैं?

त्रिपाठी जी ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि श्री जवाहर लाल नेहरू, महात्मा गाँधी तथा गणेश शंकर विद्यार्थी जी के चित्र अपने कमरे में रखते थे। उन्होंने तो न केवल चित्र रखा, बल्कि बड़ी सीमा तक उन महान् व्यक्तियों के आदर्शों के अनुरूप न केवल अपना जीवन बिताया, वरन् राष्ट्र की आंतरिक एवं विदेशी नीति में इन आदर्शों की आत्मा को ढालने की कोशिश की। क्या हम आज कह सकते हैं कि विद्यार्थी जी या गाँधी जी के आदर्श आज की राजनीति को या आज की पत्रकारिता को अनुप्राणित कर रहे हैं? क्या आज देश के लिए उसी तरह का प्रेम और बलिदान कहीं भी नजर आता है जो न केवल इन दोनों में बल्कि असंख्य शहीदों एवं स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों में स्वतंत्रता की लंबी लड़ाई के दौरान प्रदर्शित हुआ था? क्या किसी व्यक्ति के महान् विचार, एवं व्यक्तित्व की दुहाई देते रहने से ही हम उस व्यक्ति को कालजयी मान लेंगे? मैं तो समझता हूँ कि इन सब को काल विजित ही कहना होगा, क्योंकि इनके विचारों तथा आदर्शों के अनुरूप आचरण आज असंभव हो गया है। समाज ने दिखावा के लिए उनकी इज्जत और श्रद्धा, उनकी पूजा का ढोंग तो जारी रखा है परन्तु उनके विचारों और आदर्शों को इस युग के जीवन में आने नहीं दिया है। ये विचार और आदर्श उसी युग की सीमाओं में अभी भी बँधे हुए हैं।

इसी अर्थ में विद्यार्थी जी और गाँधी जी दोनों काल विजित हैं। दोनों की पूजा, दोनों के आदर्शों और विचारों की दुहाई दी जाती है परन्तु उनका आचरण और अनुकरण आज के जीवन में नगण्य है। केवल एक अर्थ में मुझे विद्यार्थी जी कालजयी नजर आते हैं। उन्होंने जीवन से जो संघर्ष किया, वही संघर्ष आज इन सब की नियति है, जो गरीब हैं, कमजोर हैं, जो आदर्शों की ओर बढ़ना चाहते हैं। यदि यह कहा जाय कि विद्यार्थी जी ने अपने जीवन में जो संघर्ष अनवरत जारी रखा वह संघर्ष कालजयी

है तो इसे स्वीकार किया जा सकता है। साथ ही यह कठोर सत्य भी है कि उनके आदर्श अब केवल पोथे पूजनीय-आदर्श हैं, उनकी तरह या उनके युग की तरह, उसे आचरण में आज ढालने वाला कोई नहीं है। इसलिए मैंने शीर्षक में उन्हें काल विजित और कालजयी दोनों कहा है। विद्यार्थी जी का संघर्ष कालजयी है, हम सब के लिए नियति है। विद्यार्थी जी के आदर्श को हमने पूजा की वस्तु बना दी है। जीवन मे आचरण में लागू करने की वस्तु नहीं। इस अर्थ में वे काल विजित हैं। इस अर्थ में हर महान् पुरुष, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, गुरुनानक और गांधी भी काल विजित है।

श्री त्रिपाठी जी की पुस्तक की यह विशेषता है कि उन्होंने बड़े ही रोचक और प्रभावपूर्ण ढंग से विद्यार्थी जी के जीवन और विचारों को इस तरह प्रस्तुत किया है कि विद्यार्थी जी के संघर्ष का कालजयी तथा उनके आदर्शों के ठोस यथार्थ जीवन में पराजय का स्पष्ट चित्रण मिलता है। हम जितना ही उस संघर्ष गाथा से प्रभावित और प्रेरित होते हैं, उतना ही उनके आदर्श जीवन, उनके सद्गुण और मानवता की तुलना मे आज के लोगों को देख कर उदास और खिन्न। यह प्रभाव स्थाई रहे, यदि हम उनके जीवन और आचरण से प्रेरणा ले सकें, आज के जनजीवन में उसकी कमी से उदास और खिन्न रहकर उस आदर्श को मानने के लिए आगे कदम उठा सकें, तो मेरी राय मे त्रिपाठी जी का यह परिश्रम तथा यह सुन्दर रचना अपने मुख्य प्रयोजन में सफल होगो।

मेरी शुभाकांक्षा है कि डॉ० गंगानारायण त्रिपाठी, भविष्य में भी ऐसी चिन्तन-प्रधान एवं शोधपरक कृतियों के द्वारा हिन्दी साहित्य भंडार को समृद्ध करने में सहायक हो।

शरद चन्द्र बेहार
कुलपति
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय
बिलासपुर, (मध्य प्रदेश)

१ अगस्त, १९८६

शुभाकांक्षा

हिन्दी साहित्य की समृद्धि तथा उन्नयन में ऐसी अनेक विभूतियों ने महत्वपूर्ण योग दिया है, जिनकी सेवाओं के मूल्यांकन पर अल्प ध्यान दिया गया है। अमर शहीद "गणेशशंकर विद्यार्थी" उन्हीं विभूतियों की उज्ज्वल परम्परा में आते हैं। देश की आजादी की लड़ाई में बहुतों ने बलिदान किया है पर अमर शहीद "विद्यार्थी जी" का बलिदान अप्रतिम एवं अविस्मरणीय है। इस बलिदान की गौरवमयी गाथा के अतिरिक्त उनकी साहित्यिक सेवाएँ भी बहुमूल्य हैं, जिन पर अभी तक प्रकाश नहीं डाला गया।

मुझे हर्ष है कि डॉ० गंगानारायण त्रिपाठी ने "विद्यार्थी जी" के इस साहित्यिक रूप को प्रकाश में लाने का उचित और प्रशंसनीय कार्य किया है। उन्होंने इस पुस्तक में परिश्रम-पूर्वक "विद्यार्थी जी" के सभी संपादकीय लेखों और स्वतन्त्र निबन्धों का अध्ययन करके अपना मत स्थिर किया है। इस पुस्तक के द्वारा "विद्यार्थी जी" के साहित्यिक रूप का निःसन्देह मूल्यांकन की ओर एक प्रशंसनीय कार्य हुआ है और इसीलिये इस कृति की अपनी विशिष्ठ उपयोगिता है।

राजभवन,
बम्बई।

शंकरदयाल शर्मा
राज्यपाल
महाराष्ट्र

अनुक्रम

हिमावृत्त अग्नि पुरुष

"आज उस दीनबन्धु के लिये किसान रो रहे हैं, कौन उनकी उदर ज्वाला को शान्त करने के लिए स्वयं आग में कूद पड़ेगा? मजदूर पछता रहे हैं, कौन उन पीड़ितो का संगठन करेगा? मवेशीखाने से भी बदतर देशी राज्यों के निवासी आज अश्रुपात कर रहे हैं, कौन उन मूक पशुओं को वाणी प्रदान करेगा? ग्रामीण अध्यापक रुदन कर रहे हैं, कौन उन्हें आश्रय देकर स्वयं आफ़त में फँसेगा? उनके कन्धे से कन्धा मिलाकर स्वातन्त्र्य संग्राम में आगे बढ़ेगा? और एक कोने में पड़े हुये पत्रकार बन्धु भी अपने को सर्वथा निराश्रित पाकर चुपचाप चार आँसू बहा रहे हैं, आपात्काल में कौन उन्हें सहारा देगा? किससे वे दिल खोलकर बात कहेंगे? किसे वे अपना बड़ा भाई समझेंगे और कौन अपने छोटे भाईयों का इतना ख्याल करेगा?"

इन उद्गारों में सुप्रसिद्ध पत्रकार श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने मानो अमर-शहीद गणेश शंकर जी विद्यार्थी के जीवन-चित्र को समग्रता के साथ सजीव कर दिया है। इस चित्र की प्रत्येक रेखा का अपना रंग और प्रभाव है। रंग में विविधता है और और प्रभाव में विस्तारशीलता। विद्यार्थी जी का एक व्यक्ति के रूप में आकलन करना इस अनूठे चित्र की विविध कलाओं का दिग्दर्शन कराता है।

इस कला में अभाव की व्यथापूर्ण कहानी, संघर्ष का तेजस्वी रूप, कर्म के चिरन्तन संगीत की मधुर ध्वनि, स्वयं को मिटाकर रस वर्षा करने वाले मेघ की सात्विक गाथा है। जन्म हुआ उनका एक साधारण परिवार में, जहाँ दोनों समय रोटी-दाल का कठिन सवाल था। पालन-पोषण हुआ उस वातावरण में, जहाँ रूढ़ि और परम्पराओं का कुहासा छाया रहता था। तरुणाई आई—उस युग में जहाँ "साथ लिए जाऊँ वध का सामान" जैसे बलि पंथी का स्वर दिग्-दिगन्त तक गूँजने वाला था। इस गुंजार की भावभूमि में "वन्दमा के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला लो" की प्रार्थना लेकर श्री श्रद्धेय अमर शहीद गणेश शंकर जी इस धरती पर आए थे।

उनका पैतृक स्थान हथगवाँ, फतेहपुर था, पर जन्म हुआ ननिहाल इलाहाबाद के अतरसुइया मुहल्ले में। महीना क्वार का, सुदी पक्ष और तिथि ९ अर्थात् विजया-दशमी के एक दिन पूर्व। विद्यार्थी जी की माँ श्रीमती गोमती देवी अपने मायके आई हुई थीं। एक दिन उन्होंने स्वप्न में देखा कि उनकी माँ ने एक देवता गणेश) की

मूर्ति उनके हाथ में रख दी है। इस पर विद्यार्थी जी की नानी श्रीमती गंगा देवी ने निश्चय किया कि "यदि पुत्र होगा तो नाम रखा जायगा गणेश और यदि पुत्री हुई तो गणेशी।" इस विश्वास-अंध-विश्वास की प्रतिद्वन्द्विता मे बालक गणेश का नामकरण हुआ। पिता मुंशी जयनारायण लाल रोजी की खोज में भटकते-भटकते तत्कालीन ग्वालियर राज्य पहुँचे। वहाँ मुंगावली नामक स्थान में उन्हें वर्नाक्यूलर (आज की प्राथमिक पाठशाला) स्कूल की मास्टरी मिली। एक तो वैसे ही अध्यापक, उस पर भी देशी रियासत का मामला, बस तनख्वाह इतनी कि बमुश्किल तमाम, जीभ रोटी-दाल से आगे का स्वाद न ले सके। बालक गणेश शंकर को भी पिता की स्नेह-छाया मे बुलाकर रख लिया गया। यह विचित्र संयोग है कि मध्य प्रदेश के जिस भू-भाग ने बालक गणेश को बाल संस्कार दिये, उसी से लगे हुए मालवा जनपद में उन्हीं के अनन्य अनुयायी वीर पुरुष श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का जन्म हुआ। अस्तु, मुंशीपन की इज्जत रखने के लिए बाप ने क, ख की अपेक्षा बे, ते, टे, से (उर्दू) से अक्षरारंभ कराया। मोटे कपड़े और मोटी रोटी के बीच में ईश्वर ने विद्यार्थी जी को सूक्ष्म बुद्धि देकर मानो उनके आगामी कल का स्पष्ट संकेत कर दिया था। परिश्रम और लगन से विद्यार्थी जी ने १९०५ में अंग्रेजी मिडिल की परीक्षा द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण की। तुलसीदास जी के "जानत हौं चार फल चार ही चनक" के अनुसार पिता के जीवन का सम्पूर्ण स्वप्न बस इतना ही था कि पुत्र मिडिल पास होकर कोई छोटी-मोटी नौकरी पा जाय। रियासत ग्वालियर की शानदार चमक-दमक में बिचारे मुंशी मास्टर का यह सपना पूरा होना भी बड़े भाग्य की बात थी। भाग्य ने कब किसका साथ दिया? मुंशी जी पर वह क्यों तरस खाता? अंततः अपने सपनों को साकार करने के लिये ही उन्होंने विद्यार्थी गणेश शंकर को अपने बड़े पुत्र श्री शिवनारायण लाल जी के पास कानपुर भेज दिया। उस समय देश में अंग्रेजी राज्य का सितारा चमक रहा था, और तूती बोल रही थी अंग्रेजी भाषा की। श्री शिवनारायण लाल जी अंग्रेजी भाषा और नौकरी के चोली-दामन साथ को अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने विद्यार्थी जी को इन्ट्रेंस परीक्षा उत्तीर्ण करने का परामर्श दिया। नियमित छात्र के रूप में फीस देकर पढ़ाना उनके लिए वैसे ही असम्भव था जैसे आजकल जनता जनार्दन के बच्चों को कैम्ब्रिज स्कूलों में भेजना। मुश्किलों के बीच विद्यार्थी जी ने तैयारी की और १९०६ में उन्होंने क्राइस्ट चर्च कालेज केन्द्र (कानपुर) से इन्ट्रेंस परीक्षा द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण की।

परीक्षा और पढ़ाई के सम्बन्ध में दो रोचक घटनायें आज भी याद की जा सकती हैं। पर्याप्त परिश्रम करने के बावजूद, नियमित छात्र न होने के अभाव में विद्यार्थी जी ने परीक्षाफल में अपना नाम तृतीय श्रेणी में देखना आरम्भ किया। कालेज की लम्बी सूची में नाम का कहीं पता नहीं था। अंततः वे अपने को अनुत्तीर्ण समझ कर हताश हो गये। घर आने पर उन्हें द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण होने का सुसंवाद मिला। अध्ययन-काल से ही उनका विचार था कि मानव अपने जीवन में सदैव कुछ न कुछ

सीखने के कारण विद्यार्थी बना रहता है। यह विशाल संसार एक पाठशाला है, जहाँ मनुष्य अपने ज्ञान का भण्डार एकदम भर लेना चाहता है। यह प्रयास जीवन के अंतिम दिन तक चलता रहता है। इसी पृष्ठभूमि में उन्होंने अपने नाम के सामने 'विद्यार्थी' शब्द का आजीवन प्रयोग किया। आज तो यह शब्द अत्यन्त प्रचलित और व्यापक हो गया है। संप्रति अनेक लोगों के नाम के साथ यह सुशोभित हो जाता है परन्तु अभी भी विद्यार्थी जी कहते हो उस अमर बलिदानी और उनके परिवार का ही सर्वप्रथम स्मरण हो जाता है। विद्यार्थी जी की प्रबल इच्छा खूब पढ़ने की थी। इसी आकांक्षा को लेकर उन्होंने कायस्थ पाठशाला कालेज, प्रयाग में प्रवेश लिया। जोशे-जवानी मे नाम लिखाना सरल था लेकिन पैसों का सवाल उतना ही टेढ़ा था। महीने पर महीने बीतने लगे। पढ़ाई और मुफ्त ? यह अंग्रेजी राज्य में सहज नहीं था। वहाँ तो जमींदार थे, जिनके कारिन्दे किसानों के सिर पर वसूली के डंडे लिए हर माह सवार रहते थे, राजा, महाराजा थे, जिनके कर्मचारी राजकोष भरने के लिए प्रजा पर कोड़े और हंटर लिए तैनात रहते थे। ऐसे ही कोड़ेबाज का राज और हंटर बहादुरों की छाप बड़े-बड़े कालेजों में पड़ती थी, जहाँ फीस न देने के कारण प्रतिभाशाली और परिश्रमी छात्रों के पत्ते जल्दी ही कट जाते थे। फीस का अभाव, पुस्तकों की कमी, परिवार का भार, इन सबके बीच उनका अध्ययन-तंतु टूट गया। निश्चय ही उन्हें अनुभव हुआ होगा कि गंगा-यमुना का पावन संगम प्रयाग "धर्म" दे सकता है पर अध्ययनार्थी को अर्थ नहीं। पढ़ाई छोड़कर वे कानपुर चले आए। कानपुर उनके लिए (और उनकी तरह अनेक मुसीबतग्रस्त लोगों के लिए) "कामपुर" बना। यहीं उन्होंने एक रुपये रोज अर्थात् ३० रुपये मासिक पर नौकरी पायी। साहित्य के सिक्कों को परखने की जिसमें क्षमता थी, देशभक्ति और जनसेवा के लिए जिसने जीवन-भर इन सिक्कों को मिट्टी समझा, उसी को कागजी नोट और निष्प्राण धातुओं के सिक्के (करेंसी आफिस) की सेवा करने का कार्य मिला। सेवा होती तो विद्यार्थी जी इसका निर्वाह कर ले जाते, पर यह तो गुलामी का पट्टा था। इसे पहनकर उनके लिए स्वतन्त्र भावना रखना भी अपराध था। कितनी मुश्किलों और कोशिशों से नौकरी के पाँच सवारों में विद्यार्थी जी का नाम लिखा गया था, पर दिल्ली तो दूर वे तो अपने दिल पर भी कब्जा न रख पाये।

घटना यों घटी—कानपुर करेंसी आफिस, बड़े बाबू और छोटे साहब। इनके बाद बाबुओं की एक लम्बी कतार। इसी कतार की अंतिम छोर पर बैठने वाला एक दुबला-पतला नौजवान। जल्दी से वह काम खत्म कर लेता और बचे समय में साथ में लाई किताब पढ़ने लगता। बात छोटे से बड़े और फिर सबसे बड़े साहब तक पहुँची। खाली समय में किताब पढ़कर स्वाध्याय का मन्त्र जगाने वाले संगीन अपराधी को बड़ा साहब छोड़ता भी कैसे ? कार्यालय में बहुतों की शेखी उसने धूल में मिला दी थी। विद्यार्थी जी को खाली समय में किताब पढ़ते देखकर एक दिन उसने अपना परिचय इन शब्दों में दिया—"मि० विद्यार्थी, मैं अपने मातहतों का निरंकुश शासक हूँ।" दुबले-पतले बाबू के शरीर पर इसका चाहे जो असर हुआ हो, पर उसके अपराजेय मन और अजेय

आत्मा की वाणी इन स्वरों में फूटी—"पर मुझे खेद है कि मैं ऐसा मातहत नहीं हूँ।" और दूसरे ही क्षण इस्तीफा पेश था। कुछ दिन यों ही चला, पर आर्थिक स्थिति विषम होती गयी। दिन भर दौड़-धूप होती, नौकरी के लिए दरवाजे खटखटाये जाते, कभी मिलती नहीं, कभी मिलती तो शर्त मंजूर न होती। जीवन-निर्वाह की समस्या, भयंकरता के साथ मुँह बाये खड़ी थी, कारण भी विशेष था। भारतीय पिता ने भारतीय भावना के अनुसार पौत्र का मुँह देखने के लिए इन्ट्रेंस पास करते ही विद्यार्थी जी का विवाह कर दिया था। यद्यपि पुत्र ने पर्याप्त विरोध किया, अपनी पढ़ाई, आयु, परिस्थिति की बहुत दुहाई दी, पर नक्कारखाने में तूती की आवाज कौन सुनता? कोई सुने या न सुने पर विद्रोही व्यक्तित्व अपना कुछ करतब तो दिखाता ही। उस जमाने में कायस्थ की बारात में मदिरा और नृत्य न हो तो वह भी कोई बारात होती? यह तथ्य उस समय की सामाजिक स्थिति का प्रतिबिम्ब है। (यद्यपि आज भी हम इसी के इर्द-गिर्द घूम रहे हैं, अन्तर सिर्फ इतना है कि तब मदिरा एक वर्ग विशेष की सामाजिक मर्यादा की कसौटी थी और अब स्वतन्त्र भारत के विकास काल में वह दिल्ली, लखनऊ, कलकत्ता जैसे नगरों के उस तथाकथित सुसंस्कृत शिक्षित वर्ग की कसौटी बन गयी है जो अपने को अल्ट्रा माडर्न (अति आधुनिकतावादी) के नाम से उद्घोषित करता है।) बहरहाल, बात नृत्य पर आकर अड़ गयी। दूल्हा भी डट गया कि बारात में वेश्या गई तो वह शादी में न जाएगा। अंततः आदर्शवादी दूल्हा की जीत और वेश्या समर्थकों की हार हुई।

हाँ, तो कहानी नौकरी से शुरू हुई थी। काफी परेशानियों के बाद अध्यापक का बेटा कानपुर के पृथ्वीनाथ हाईस्कूल में २० रुपये मासिक पर अध्यापक बना। अध्यापक बनने पर स्वाध्याय की सोई लालसा फिर जागी, लड़कों को पढ़ाने के बाद खाली घन्टों में स्वाध्याय होता। "स्वाध्याय भले ही हो लेकिन घर में। क्योंकि जब तक कोई स्कूल में है तब तक वह स्कूल का नौकर है।" यह घोषणा की पृथ्वीनाथ हाई-स्कूल के तत्कालीन अनुशासनप्रिय प्रधानाध्यापक ने। करेंसी आफिस की याद तो अभी ताजी ही थी, इसलिये कलम उठी और त्याग-पत्र देकर विद्यार्थी को छुट्टी मिल गई।

जब किसी सामान्य व्यक्ति के जीवन में ऐसी घटनायें बार-बार घटने लगती हैं तब वह निराश होकर जीवन को भार समझने लगता है। जगत को "पानी केरा बुदबुदा" मान लेता है लेकिन महान् व्यक्तित्व में असाधारण संक्रमण, संकट और नैराश्यपूर्ण क्षणों में छिपी शक्ति का अजस्र स्रोत फूट पड़ता है। उसमें आदर्श की ज्योति विषम स्थितियों की घनीभूत तमिस्रा को चीरकर प्रगट हो उठती है। विद्यार्थी जी के सामने एक प्रश्न था पारिवारिक उत्तरदायित्व, आर्थिक समस्या, जीवन के आदर्श इन सबके बीच में मेल रखने वाला कौन सा मार्ग ग्रहण करना सम्भव है? मानसिक द्वन्द्व के ऐसे ही क्षण में उनका ध्यान गया, प्रयाग से निकलने वाले पत्र 'कर्मयोगी' की ओर। वह कर्मवीर पंडित सुन्दरलाल जी की तपस्या का प्रतिफल था। विद्यार्थी जी के अन्तरतम में छिपा हुआ लेखन शक्ति का बीज बाहर आने के लिये तड़पने लगा।

कर्मयोगी ने उसे प्रेरणा का नीर दिया और वह अंकुर बनकर निकल पड़ा। विद्यार्थी जी ने लिखने में रुचि लेना आरम्भ किया। कर्मयोगी में उनके लेख छपने लगे। आर्थिक दृष्टि से तो प्राप्ति शून्य ही थी पर बैठे से बेगार भलो। उनके लेख 'सरस्वती' और 'स्वराज्य' आदि पत्रों में भी प्रकाशित होने लगे। 'सरस्वती' संपादक पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी की साहित्यिक सेवाओं का इतिहासकार, समीक्षक विद्वान् चाहे जिस प्रकार का मूल्यांकन करें, पर हमारा विनम्र अनुरोध है कि उनकी ऐतिहासिक उप-लब्धि अनेक प्रतिभाओं की खोज, तत्कालीन टेढ़े-मेढ़े अक्षरों का, भविष्य की समर्थ वाक्यावली में स्वरूप परिवर्तन तथा विविध लोह पिण्डों को छूकर उनमें स्वर्ण सौन्दर्य का स्थापन है। यदि महावीर का "प्रसाद" न मिलता तो आज हिन्दी का राष्ट्रकवि कहाँ होता ? यदि द्विवेदी जी के वरदानी हाथों ने विद्यार्थी जी को सम्बल न दिया होता तो हिन्दी पत्रकार जगत् का सिरमौर गणेश शंकर कहाँ होता ? तात्पर्य यह कि द्विवेदी जी के सहायक बनकर उन्होंने पत्रकार जगत् में प्रवेश किया। काम था 'सरस्वती' के सम्पादन में सहायता करना और वेतन केवल पच्चीस रुपये मासिक। द्विवेदी जी के हाथों से यह नियुक्ति मात्र न थी वरन् इस रूप में हिन्दी पत्रकार कला के एक नये अध्याय का प्रथम पृष्ठ लिखा गया था। इस पृष्ठ के अक्षर आगे चलकर इतिहास के अमिट तथा ज्वलन्त चिह्न बन गये, जो एक शती तक उत्तर भारत और समग्र पत्रकार जगत् मे अपनी तेजस्विता से छाये रहे। इस अक्षर-पुरुष के प्रभाव से कोई न बचा। गुरुवर महावीर प्रसाद द्विवेदी तक ने स्वयं इस शिष्य पुरुष को पुत्रवत् स्नेह दिया। शिष्य की कहानी गुरु की वाणी में इस प्रकार है—"गणेश को मैंने सदा अपना छोटा भाई या लड़का समझा। मेरे पास से चले जाने पर भी वे मुझे उसी दृष्टि से देखते रहे, जिस दृष्टि से पहले देखते थे। उनका प्रेम, उनकी श्रद्धा मुझ पर सदा एकरस बनी रही। तीन माह तक मैं कानपुर में सख्त बीमार पड़ा रहा, इस दशा में भी उन्होंने मुझे आराम पहुँचाने का काफी प्रयत्न किया। उनकी उग्र लेखनी देखकर मैं कभी-कभी काँप उठता था और उन्हें सौम्य बनने की शिक्षा देता था। उत्तर में वे सदैव ही मुस्करा देते थे। जेल से लौटने पर एक बार उनका अस्थि-पंजर शरीर और बढ़े हुए बाल देख-कर मैं रो पड़ा था। वह भी रोये थे।" द्विवेदी जी का ऐसा स्नेह उन्हें मिला था क्योंकि उनमें अपूर्व क्रियाशीलता एवं निष्ठा थी। 'सरस्वती' में कार्य करते हुये उनके गुणों की चर्चा सारे प्रयाग में फैल गयी थी। यही कारण है कि 'अभ्युदय' साप्ताहिक के संचालकों ने उन्हें अपने यहाँ बुला लिया। 'अभ्युदय' में जाते समय द्विवेदी जी ने स्पष्टतः उनसे कहा था—"मैं केवल इसीलिए वहाँ जाने की अनुमति दे रहा हूँ कि तुम्हारी प्रतिभा के विकास का वहाँ पूरा अवसर मिलेगा।" गुरु का आशीर्वाद शिष्य के लिए फलीभूत हुआ। विद्यार्थी जी ने 'अभ्युदय' के चमकाने मे दिन-रात एक कर दिया।

दुबला-पतला शरीर। खाने-पीने की चिन्ता नहीं, काम का भारी बोझ। कभी-कभी बारह घन्टे तक काम ही काम। साल भर भी ठीक से न बीता कि शरीर बीमार

रहने लगा, परन्तु पत्रकारिता और देश सेवा की भावनाओं के सामने शरीर का मूल्य ही क्या था ? आखिरकार, जब अशक्तता की बात आ गयी तब फिर कानपुर याद आया। कुछ महीने बाद जाकर वे ठीक हुए। यहीं उनके मन में पत्रकारिता की जन्म-जात उमंगों ने फिर जोर मारा। निश्चय हुआ कि प्रयाग जाने की अपेक्षा कानपुर से ही एक स्वतन्त्र पत्र निकाला जाय। विचार चल ही रहा था कि उन्हें श्री शिवनारायण मिश्र जैसा कर्मठ और सच्चा मित्र मिल गया। ज्यादा पूंजी हाथ में नहीं, अन्य साधनों का भी अभाव, लेकिन उमंगे तो थीं ही, देश-भक्ति, जनसेवा और हिन्दी प्रेम की त्रिधारा भी थी। इन सबका सुपरिणाम, देवोत्थान एकादशी संवत् १९७० (९ नवम्बर, १९१२ को) 'साप्ताहिक प्रताप' के रूप में प्रकट हुआ। यह पत्र क्या था ? ऐतिहासिक राणा प्रताप के कठोर व्रत तथा आदर्शों का पुनर्जन्म था।

ऐसे ऐतिहासिक परिवेश को नूतन रूप देने वाला यह व्यक्तित्व कैसा था ? इसका उत्तर उसके अनेक साथियों, सहयोगियों, स्नेहीजनों ने अपनी-अपनी दृष्टि से दिया है। इन उत्तरों के सन्दर्भ में एक विकसित सरोज की कल्पना अपने आप मन में आती है। उसकी मृदुता, रंगाकर्षण, सुरभि, सौम्यता इन सबको—सौन्दर्य दृष्टि विभिन्न-विभिन्न रूपों में ग्रहण करती है। निश्चय ही ग्रहण करने की मात्रा में अन्तर हो सकता है, परन्तु उसकी ग्राह्यता अनिवार्य है। ऐसी ही ग्राह्यता विद्यार्थी जी के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में थी। कोई कहता है—वह निर्भीक था और कोई उसे आत्म बलिदानी मानता है, कोई संवेदनशील, निस्स्पृह, जनसेवक के रूप में याद करना चाहता है तो कोई कर्मठ साहित्यकार की बात कहकर श्रद्धांजलि के दो पुष्प चढ़ाना चाहता है। इन सभी भावनाओं के बीच यह तथ्य सर्वोपरि है कि वह एक सच्चा मानव था। "इस संसार में मनुष्य बनकर जीना भी कितना कठिन है", यह उसके अपने बलिदान ने सिद्ध कर दिया।

एक मनुष्य के रूप में वह परिवार का ऐसा प्राणी था, जो परिवार मे रहकर भी उससे सर्वथा दूर। वह एक जनसेवक था पर यश की लिप्सा से सर्वथा मुक्त। वह एक साहित्यकार था पर भावनात्मक फूलों के साथ यथार्थ की कठोर धरती से परिचित। वह एक राजनीतिक नेता था, पर आस्था, आदर्शवादिता तथा सच्चाई की मशाल को मजबूती से हाथ में लेकर निरन्तर अग्रगामी। हाँ, चाहे, तो उसे धार्मिक पुरुष भी कह सकते हैं। डॉ० सम्पूर्णानन्द के शब्दों में—"अपने निजी परिचय के आधार पर कह सकता हूँ कि विद्यार्थी जी सच्चे अर्थों में धार्मिक पुरुष थे। धर्म की परिभाषा शास्त्रकारो ने यह की है—"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।" अभ्युदय, अपना अभ्युदय नही देश और राष्ट्र का अभ्युदय जिस धर्म से होता है—उस धर्म से वह निरन्तर अभिषिचित होते रहते थे।" तो इस धर्मात्मा को मंदिर में जाने की कभी फुरसत न मिली, पूजापाठ का ख्याल भी न आया। रोली, तिलक और रामनामी दुपट्टा तो मयस्सर न हुआ पर धर्म के लिए अर्पण करने में सहकारियों का रहनुमा, साथियों से पेश, मित्रों से आगे सदा आगे। सम्पादकाचार्य पण्डित अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने

इसकी इस तरह पुष्टि की है—"मनुष्य का जन्म लेना सार्थक होता है, जो औरों के लिए जीता हैं। धर्म के लिए मरने वाला ही शूर है।" कबीर ने कहा है—

"सूरा सो पहचानिए लड़े धरम के हेत,
पुर्जा-पुर्जा कटि मरे तऊ न छांड़े खेत।"

तो क्या सत्य नहीं कि उसने कबीर को उनके परम्परावादी अनुयायियों अथवा साहित्य की बखिया उधेड़ने वाले जिज्ञासुओं की अपेक्षा अधिक सच्चे अर्थों में पढ़ा था, तथा इस अर्थ को जीवन में ग्रहण भी किया था। बाह्य धर्म में तो वह खरा उतरा, पर अन्तर में भी वह सदैव स्वच्छता और सौन्दर्य का पुजारी ही रहा। यह पूजा की भावना क्या उसके बाह्य सरल रूप की देन नहीं थी ? उसी के अनुज और परमप्रिय फक्कड़ साथी श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की तूलिका से अनुरंजित चित्र की यह झलक देखिए—"उनकी मुखाकृति सुन्दर थी, अत्यन्त संवेदनशील नासा, तेजपूर्ण नेत्र, सूक्ष्म-ग्राही चेतनावान अधर, दृढ़ चिबुक, स्थिर संकल्पपूर्ण जबड़े, चिन्तन कष्ट तप रेख मंडित भाव प्रदेश, खद्दर की धोती-कुर्ता जिसका ऊपर का बटन खुला हुआ। कभी नग्न सिर, कभी खद्दर की गांधी टोपी, कभी गले में दुपट्टा, अधिकतर नहीं, आकर्षणयुक्त मुस्कान, नेत्रों से झाँकती हुई करुणा, निश्छलता, जल्दी-जल्दी निर्भीक डग भरते हुए चलना, आडम्बर की आत्यान्तिक शून्यता, मुक्त हास, कुछ ऐसा था गणेश जी का स्वरूप।"

व्यक्ति का पहला कर्मक्षेत्र घर होता है। घर में चाहिए नमक, तेल, लकड़ी। गणेश जी इसे पूरी तरह कभी जुटा नहीं सके। कभी बच्चों को दूध मिला, कभी नहीं। घर भी इतना छोटा कि सारे परिवार को एक साथ सोने की मुश्किल। बच्चा बीमार हो या पत्नी, पिता बीमार हो या स्वयं, पर मूल्यवान औषधि और पौष्टिक भोजन की प्रतीक्षा ही प्रतीक्षा आजीवन रही। अर्थ संचय के नाम पर रोज कुआँ खोदना और रोज पानी पीना। आज सन्ध्या समाप्त हुई तो अनेक कार्यों की आर्थिक चिन्ता लेकर कल का प्रभात आ गया। अभावों की ऐसी असफल गृहस्थी में उनका संतोष चिर-जीवित रहा। गृहस्थी का अर्थ, अगर पारिवारिक स्नेह, शांति और हँस-हँस कर जीवन काटना है तो निश्चय ही वे सद-गृहस्थ थे। बड़ों की सेवा में उनकी श्रद्धा निरन्तर परिलक्षित होती थी। समवयस्कों के लिये मैत्री-भाव की स्निग्ध धारा बहती थी। बच्चों के संग वे अपने को ही भूल जाते थे। अगर सेवा का सवाल है तो उन जैसा तीमारदारी करने वाले बिरले ही होते हैं। उनकी सेवा भावना अनूठी थी। इसकी एक झलक पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी जी के इन शब्दों में मिलती है—

"सत्याग्रह आश्रम की बात है। लड़के को तेज बुखार आ गया था। मैं घबरा गया। डाक्टर चार-पाँच मील पर रहते थे। बंधुवर हरिभाऊ उपाध्याय के पास गया। वे लेख लिखने में व्यस्त थे। ज्योंही मैंने जिक्र किया, उन्होंने तुरन्त ही कलम रख दी और साथ चल दिये। डाक्टर आये। लड़का स्वस्थ हो गया। मैंने हरिभाऊ जी से कहा—आप उस दिन फौरन ही मेरे साथ चल दिये, इससे मुझे बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने कहा—यह बात मैंने गणेश जी से सीखी चाहे जैसा जरूरी काम वे कर रहे हों पर

यदि उन्हें यह मालूम हो जाय कि किसी बीमार के लिए उनकी सेवा की जरूरत है तो वे तुरन्त अपना काम छोड़कर उस बीमार के काम करते हैं।" बाहर के अधिक कार्य-भार से दिन भर थककर प्रायः लोग घर-परिवार की सेवा पर ध्यान नहीं दे पाते। विद्यार्थी जी के लिये ऐसा कहना मुश्किल है। उनके जीवन में ऐसी भी रातें आईं जब दिन-भर के काज करने के बाद उन्हें लगातार हफ्तों जाकर बच्चों की सेवा में रहना पड़ा है। एक मित्र को भेजे गये उनके पत्र के ये शब्द ऐसे ही कुछ क्षणों की स्मृति सजीव करते हैं—

"आज पांच रात से बराबर जगकर दो बच्चों को, जिन्हें निमोनिया हो गया है, सेवा कर रहा हूं। घर की चिन्ताओं से घर के बाहर निकलते ही छूट जाता हूँ और बाहर से घर पहुँचते ही घर की चिन्ताओं से दब जाता हूँ।" अनेकानेक कार्यों के भार को उठाते हुए, यदि कहीं वे जी बहला पाते थे तो बच्चों के बीच में। बच्चों के साथ मानों खुद उन्हीं का बचपन लौट आता था। वही हँसी, वही निश्छलता, वही निश्चिन्तता कुछ क्षणों के लिए उनके जीवन में आ जाती। बच्चों की शरारत के लिए उनके पास डाँट-फटकार नहीं थी और न ताड़ना। उनकी शरारतों के मजे वे कैसे लेते ? इसकी चर्चा स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त ने इस प्रकार की है—"बच्चों से उन्हें बड़ा प्रेम था और उनके साथ हँसने व खेलने में बहुत आनन्द मिलता था। एक दिन आफिस में आकर हँसते-हँसते मुझसे बोले—सुनते हो ओंकार की बात (चिरंजीव ओंकार शकर उनके कनिष्ठ पुत्र, उन दिनों वह ६,७ वर्ष के रहे होंगे) आप छत पर दिगम्बर रूप में खड़े-खड़े हवा में अपनी धोती उड़ा रहे थे। मैंने कहा "ओंकार, भला इसमें तुम्हें क्या आनन्द आता है ?" छूटते ही बोला—"बाबूजी करके देखो।"

पत्नी के लिए उनके मन में असीम प्यार था। अपने सार्वजनिक जीवन की सफलता, ख्याति की व्यापकता, साहित्यकार की विशिष्टता में वे कभी सोच भी न सके कि उनकी पत्नी कम पढ़ी-लिखी और चूल्हा-चौका वाली साधारण नारी है। इस साधारण नारी के प्रति उनकी अमिट स्नेहभावना थी। पत्नी के प्रति निष्ठा पालन मे वे कभी चूके नहीं। उनके हृदय में संवेदनशीलता की एक अजस्र धारा थी। इसकी शीतलता बाहरी दुनिया के लिए उन्होंने दोनों हाथों से जिन्दगी भर लुटाया तो पत्नी ही कैसे वंचित रहती ? एक बार वे प्रताप कार्यालय से काम करके १० बजे रात घर लौटे। बच्चे सो गये थे। पर उत्तर प्रदेश के सर्वाधिक ख्याति प्राप्त लोक सेवक, 'प्रताप' सम्पादक की सीधी-सादी पत्नी दीपक के मद्धिम प्रकाश में बैठी पति का इन्तजार कर रही थी। वह विचार-मग्न थी। चिन्तन भी ऐसा कि कपोलों पर से आँसुओं की लड़ियाँ गिर-गिर कर जाने कितने दिनों, महीनों, वर्षों की व्यथा को साकार कर रही थीं ? उन आँसुओं में क्या था ? क्या जीवन के बीते दुःखपूर्ण अतीत की स्मृतियाँ ? परिवार के दिन-प्रतिदिन के अभाव ? पति के जीवन का ज्वलंत संघर्ष ? नहीं, यह सब कुछ नहीं था। थी केवल एक छोटी पर, अत्यन्त मार्मिक घटना। घटना का विवरण उनके अभिन्न मित्र श्री श्रीप्रकाश जी के शब्दों में इस प्रकार है—"उन्होंने पूछा क्या बात है ? क्यों

रो रही हो ? उनकी स्त्री ने कहा कि हमारे पड़ोसी साहब ने अभी हाल में दूसरी शादी की है। पहली स्त्री से और गणेश जी की स्त्री से मित्रता थी। उस रात को पति की प्रतीक्षा में बैठे हुए उन्होंने बगल के मकान से बच्चों के रोने की आवाज सुनी। अपने घर के बरामदे से वे उस मकान के बरामदे में सरलता से डाँक कर जा सकती थी, सो चली गई। देखा बच्चे जाड़े में ठिठुर रहे हैं और उनको देखने वाला कोई नहीं। उनके पिता और उनकी नयी माँ दरवाजा बन्द करके भीतर की कोठरी में सो रही थी। गणेश जी की स्त्री ने कहा कि मैंने सोचा—जब मैं मर जाऊँगी तो तुम भी दूसरी शादी कर लोगे। उस समय मेरे बच्चों की भी यही हालत होगी। ऐसा विचार करके मैं रो रही हूँ।'' गणेश जी हँस पड़े और अपनी स्त्री से उन्होंने कहा—''तुम मेरा विश्वास रखो यदि तुम मर भी गईं तो मैं कभी दूसरी शादी नहीं करूँगा। दिल्लगी करते हुए उन्होंने यह भी जोड़ दिया कि यदि मन नहीं मानेगा तो मैं इधर-उधर हो आऊँगा पर किसी स्त्री को घर में न लाऊँगा।'' संवेदनशीलता की यह कहानी बहुत लम्बी है। परिचित, अपरिचित, अतिथि, मित्र, सरकारी कर्मचारी, किसान, मजदूर, कार्यकर्ता, छात्र सभी इस कहानी के पात्र थे। इन सबकी दर्जनों कहानियां है जिनमें उस मानव की सवेदनशीलता अंकित है। 'सैनिक' के सम्पादक श्री कृष्णदत्त पालीवाल छात्र के रूप मे उस व्यक्ति के चरणों में आए और उसी की प्रेरणा से सुप्रसिद्ध पत्रकार और सफल राज-नेता बने। श्री बालकृष्ण 'नवीन' भी मालवा छोड़कर इसी तरह उसके पास पहुँचे और उसके अनुज बन गये। भगतसिंह जैसे क्रांतिकारी प्रताप कार्यालय में महीनों आश्रय लेकर पड़े रहे। वह केवल एक व्यक्ति नहीं संस्था थे और 'प्रताप' केवल निर्भीक पत्र ही नहीं दुखियों का विशाल आश्रय केन्द्र था। कानपुर के मिलों में हड़ताल होती तो यही संवेदनशील हृदय सारा काम छोड़कर रात-दिन मजदूरों, उनके परिवारों को गुड़, चना बांटने की व्यवस्था करता। जिले और सूबे के किसानों पर जुल्म होता तो यही हृदय प्रतिरोध का स्वर बुलन्द करता। तत्कालीन देशी रियासतों की प्रजा के साथ पशुओं के समान व्यवहार होता तो इसी की लेखनी आग उगलकर उन्हें कम्पित कर देती। इन सब उत्तरदायित्वों के बीच वह पारिवारिक स्नेह का अमरदाता था। दो पुत्र और चार पुत्रियों के परिवार में उसने अपने पारिवारिक कर्तव्यों का सदा ध्यान रखा। हिन्दू जीवन के पुत्रासक्ति की अपेक्षा वह पुत्र-पुत्रियों को एक धरातल पर रखने का विश्वासी था। बड़े पुत्र भाई हरिशंकर विद्यार्थी ने इन पंक्तियों के लेखक से सन् १९५१ में चर्चा करते हुए कहा था—''बाबूजी ने कभी मेरी बहनों को ऐसा अनुभव न होने दिया कि लडकी होने के कारण हमसे उन्हें कम सुविधा है।'' इन बच्चों को भले ही वह खान-पान की सारी सुविधाएँ न जुटा सका, पर उनके मानसिक खुराक की उसने सदैव चिन्ता की। बड़े पुत्र हरिशंकर जी विद्यार्थी उसी के पद चिह्नों पर चलकर एक सफल पत्रकार और पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के शब्दों में—''हिन्दी गद्य के एक अभिनव लेखक बने। कनिष्ठ पुत्र श्री ओंकार शंकर जी विद्यार्थी डी० ए० वी० कालेज, कानपुर मे अंग्रेजी प्राध्यापक के रूप में सफल शिक्षक सिद्ध हुये।

एक व्यक्ति के रूप में उन्हें देखने के विभिन्न दृष्टिकोण हो सकते हैं। कोई उन्हे बाहर से शुष्क और भीतर से मृदुल बताता है, कोई उन्हें कार्यों के बोझ में क्रोधी बन जाने की बात करता है। कोई उन्हें सच्चा पत्रकार और कोई लोक सेवक की संज्ञा देता है। जो कुछ भी हो, पर इन सभी दृष्टिकोणों का एक निश्चित मिलन बिन्दु है। यह मिलन बिन्दु उसके हृदय की संवेदनशीलता है। उनकी दृढ़ आत्म-सम्मानी वृत्ति पर विनम्रता का जीवन्त रूप, बड़ों-बड़ों से टक्कर लेने की निर्भीकता और शक्ति, पर एक अदना के आगे भी सिर झुकाकर विनम्र बनने की भावना, बड़े-बड़े "ताजपोशों" और तथाकथित दानदाताओं की थैलियों को ठोकर मार देने की हिम्मत पर स्वयं विपन्न बन कर भी कृतज्ञ, कृतघ्न दोनों प्रकार के मित्रों की सहायता करने का स्वभाव—इन सभी के मूल में उसकी संवेदनशीलता ही थी।

इन सारी बातों की कितनी ही तस्वीरें उसके जीवन के साथ जुड़ी हुई हैं। आज के सत्ता-प्रधान वातावरण में ये तस्वीरें कितनी मोहक और मूल्यवान हैं। ये तस्वीरें, जिन पर आज समय की धूल जम रही है, जिन पर विस्मृतियों के कुटिल धब्बे लग रहे हैं, जिन्हें कोरे आदर्शवाद की संज्ञा देकर कुछ लोग समय से पीछे हो जाने का आज फतवा देते हैं।

दुबली-पतली उस काया में निर्भीकता तथा आत्म-सम्मान का कितना अविरल प्रबल स्रोत था? कानपुर के अंग्रेजी कलेक्टर ने, एक देशभक्त के सम्बन्ध में सांकेतिक भाषा में छपे एक संवाद पर जवाब तलब किया। जवाब तलब ही नहीं, अपनी सेवा मे उपस्थित होने का आदेश दिया। वह नरनाहर उपस्थित हुआ। अंग्रेज कलेक्टर की कठोर चेतावनी और धमकी उसके लिये बिलकुल व्यर्थ सिद्ध हुई। उलटे कलेक्टर को ही सुनना पड़ा। "पहले आपको मनुष्य बनना चाहिये। आप मेरी ही तरह किसी अखबार के सम्पादक होते तो अपने देश के भक्तों के लिये आप क्या करते?" कलेक्टर निरुत्तर सुनता ही रहा और विद्यार्थी जी सुनाते ही गये। इस तरह जहाँ भी आत्म-सम्मान का प्रश्न आया, वह नहीं झुके। एक प्रसंग याद आता है—तत्कालीन ग्वालियर राज्य में प्रजा के ऊपर किये गये किसी अत्याचार का समाचार छपा। ब्रिटिश सरकार के तलुवे सहलाने वाले तत्कालीन निरंकुश "तख्तपोशों" के लिए ऐसी बातें असह्य थीं। फिर ग्वालियर राज ने तो उसके पिता को मास्टर बनाकर नमक भी खिलाया था। सम्पादक श्री गणेश शंकर विद्यार्थी को ग्वालियर राज्य में बुलाया गया। साथ मे थे आदरणीय स्वर्गीय श्री वृन्दावनलाल वर्मा। महाराज ग्वालियर (श्री माधवराव जी सिंधिया) के सामने ज्यों ही विद्यार्थी जी पहुँचे, वे व्यंग्यात्मक रूप में सम्मान देने के लिए उठ खड़े हुए और कहा—"आईए आप कीजिये राज।" विद्यार्थी जी ने अपनी तेजस्विता से उत्तर दिया—"तो क्या इसी के लिये बुलाया गया हूँ?" बात आगे बढ़ी तो महाराज ने कहा, "आप छाप दीजिये कि वह समाचार गलत था।" जनशक्ति के स्रोत, शोषित किसान मजदूर मजलूमों के हृदय सम्राट से एक विदेशी शासन की संगीनों पर टिके हुए उस महाराज को क्या उत्तर मिला यह श्री वर्मा जी के ही शब्दों मे प्रस्तुत

हैं—"निर्भीक बेलौस सम्पादक का उत्तर मिला—आप खण्डन भिजवा दीजिये, मैं उसे भी प्रकाशित कर दूंगा।"

महाराज को यह अच्छा नहीं लगा। उन्हें इस प्रकार की बातें सुनने का अभ्यास नहीं था।...महाराज ने उस लेख के लिखने वाले का नाम जानना चाहा। गणेशजी ने तुरन्त इन्कार कर दिया—"यह सम्पादक-धर्म के बिल्कुल विरुद्ध है। पर इस चित्र का आत्म-सम्मानी रंग तो इन कथा रेखाओं में है—"जब विद्यार्थी जी चलने लगे, महाराज के निजी सचिव ने हम लोगों के आने-जाने का यात्रा व्यय देना चाहा। गणेश जी ने उसे छुआ भी नहीं और बोले—परमात्मा की दया से 'प्रताप' की ऐसी स्थिति है कि उसे आपका पैसा ही नहीं चाहिये।

...पर ऐसी दृढ़ता का यह पौरुष पुंज अपनी छोटी-सी त्रुटि या भूल के लिये और तो और, प्रताप प्रेस के सामान्य कर्मचारियों से हाथ जोड़कर माफी मांग लेता। इतने पर भी यदि उसकी उदासी न जाती तो वह "सच्चाई" उसके अधरों पर इन स्वरों में फूट पड़ती—"कहो तो मैं लिखकर माफी मागूं। कहो तो चार आदमियों के सामने माफी मागूं।"

ऐसी विनम्रता, संवेदनशील हृदय के अतिरिक्त कहाँ प्राप्त हो सकती थी? इस संवेदनशील अन्तर का स्वच्छ और दिव्य रूप दुखियों की सेवाओं में झलक पड़ता था। यह वह व्यक्तित्व था जिसे साम्राज्यवादी ब्रिटिश शासन क्या, मौत तक न ठग सकी। मृत्यु ने उसे मारना चाहा पर वह तो पूज्य बापू के मुँह से अमर शहीद की उपाधि पाकर कालजयी बन गया। पर ऐसे कालजयी व्यक्तित्व को दुःख के आंसू और करुणा के स्वर कदम-कदम पर ठग लेते थे। बार-बार वह सावधानी की कसमें खाता, दुःखी बनकर आये हुए कृतघ्न मित्रों से बचने के पैंतरे बदलता, पर उस संवेदनशीलता के कारण सब दाँव रखे रह जाते, सारा गुड़ गोबर हो जाता। वह बार-बार दुखियों की सेवा में लुटता और कभी स्वयं उनसे भी दीन बन जाता। ऐसे ही एक दृश्य का मुलाहिजा तो कीजिये—रविवार का दिन। प्रताप कार्यालय बन्द। आप दफ्तर में रहकर लेख लिखने में तल्लीन। दरवाजे पर थप-थप की आवाज। उठकर देखा तो एक मध्यम वर्ग के सज्जन उदास मुद्रा में सामने।

"कहिये क्या है?"

उदास ओठों ने कहा—"परदेशी हूं। सारा माल-असबाब चोरी चला गया। इतना पैसा चाहिये कि कुछ खा-पीकर घर पहुँच जाऊं।"

ऐसे लोगों से बचने की कसम खाने वाले ने सोचा, "ना" कह दूं। पर.. पर ...संवेदनशील हृदय जो ठहरा। जेब टटोल कर जो कुछ पास था, सामने रख दिया। अत्यन्त दीन और कातर स्वर में प्रार्थना हुई—"आज मेरे जेब में कुल इतने ही रुपये हैं। इसी में मुझे अपना खर्च भी चलाना है। चाहो तो यह सब ले जाओ, चाहो तो कुछ पैसे मेरे लिये छोड़ दो।"

ऐसा निवेदन ससार में सुना जाता रहे सा फिर क्या पूछना? और वह

आदमी सब कुछ लेकर चलता बना। संवेदनशील हृदय लेखनी उठाकर फिर अपनी भाव धारा में डूब गया। सेवा वृत्ति की ऐसी कितनी ही घटनाएँ उस बलिदानी जीवन मे घटित हुईं। "कबिरा और न ठगिये" के एक-एक शब्द को मानो इस व्यक्तित्व ने जीवन में उतार लिया था। ठगे जाने के बाद भी वही "शील" वही व्यवहार एक अनूठा गुण था, उनमें। इसे आप दुर्बलता भी कह सकते हैं, पर यह दुर्बलता भी कितनी दुर्लभ होती है। राष्ट्र कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने इस वृत्ति के सम्बन्ध में एक घटना का उल्लेख किया है। इसके अनुसार विद्यार्थी जी के एक तथाकथित मित्र ने उनसे 'प्रताप' के छपे लिफाफे पर वाइसराय का पता लिखवा लिया। बाद में उसी लिफाफे मे तत्कालीन कई रियासतों के सम्बन्ध में उन्होंने कुछ शिकायतें भेज दीं। उस जमाने मे 'प्रताप' अखबार के नाम का उपयोग जाँच के लिए पर्याप्त था। उन महाशय ने ऐसी जाँच से निजी लाभ उठाने की तिकड़मबाजी की। संयोग से उन्हें सफलता भी मिली। एक रियासत में महाराज के प्राइवेट सेक्रेटरी बनने का उन्हें अवसर मिल गया। इस अवसर का लाभ उठाने के लिये उनके वस्त्रों का आर्थिक भार विद्यार्थी जी को ही उठाना पड़ा। अगणितजनों की सहायता करना और किसी से नहीं कहना, यह उनका एक स्वभाव ही हो गया था। इस वृत्ति के लिये उन्हीं के मित्र अनुयायी और स्नेही बन्धु भारतीय आत्मा की निम्नांकित पंक्तियाँ बड़ी प्रासंगिक हैं—

मैं हूँ सजनि, मील का पत्थर,
अंक पढ़ो चुपचाप पधारो।
मत आरोपो अपने पन को,
मत मुझ पर देवत्व उतारो॥

इन घटनाओं के दर्पण में, उसके व्यक्तित्व को देखा जाय तो वह कितना विराट, शक्तिशाली परन्तु सौम्य दृष्टिगोचर होता है। उसके व्यक्तित्व की कुछ सतरंगी एवं स्वर्णिम रेखायें पं० जवाहरलाल नेहरू की इन पंक्तियो में अंकित हैं—

"...वह अत्यन्त प्यारे साथी और दोस्त थे। जवांमर्द और निडर, दूरदर्शी और निहायत अक्लमंद सलाहकार, कभी हिम्मत न हारने वाले, चुपचाप काम करने वाले। नाम, पद और प्रसिद्धि से दूर भागने वाले।" इन रेखाओं ने भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री को भी गहराई तक प्रभावित किया था। तभी तो उनके कमरे में जो दो विशिष्ट चित्र लगे रहते, उसमं एक राष्ट्रपिता बापू का था और दूसरा इस बलिदानी का। चित्र का कुछ ऐसा ही आकर्षण श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने भी स्वीकार किया है—"वह निडर और साहसी थे, मगर अविवेकी नहीं। कार्य-सिद्धि का ध्यान रखते थे पर आदर्श को खोकर नहीं, दूसरों के बलिदान पर नहीं। वह राजनीतिज्ञ थे परन्तु दलबन्दी वाले नेता नहीं, उनकी सहानुभूति व्यापक व सीमा रहित थी। कोई भी दुखिया होनहार ऐसा न मिलेगा जो उन तक पहुँच कर निराश वापस लौटा हो। उस समय का कोई आन्दोलन ऐसा नही जिसमें, गणेशजी की आत्मा कहीं न कहीं बोली न हो, उनका प्रताप न चमका हो।"

दूसरों की सहायता करने वाली उनकी वृत्ति इतनी तेज थी कि खुद अपनी सहायता ही भूल उठते थे, यह नशा सहायता का था पर शोहरत का नहीं। इतना ही मालूम होना काफी था कि कोई व्यक्ति दुःखी है। वह कहे या न कहे, उस तक पहुँचना उनके लिए लाजिमी था। इतना ही क्यों, अगर विरोधी को भी किसी आफत या दुःख में देख लेते तो उसकी सहायता करने के लिये वे खुद ब खुद हाजिर हो जाते। पत्रकार श्री विष्णुदत्त शुक्ल की ये पंक्तियाँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं—"अधिकांश में उनके पास दुःखी और सताए हुए लोग ही आते थे। उनके पास आकर कोई बिरला ही आभागा विमुख होकर लौटा हो।" उनकी इस वृत्ति का महत्त्व इसलिये है कि वे साधन सम्पन्न नहीं थे। अधिकार, पद या धन कुछ भी नहीं था उनके पास। इन सबके अभाव मे वे दूसरों के दुःख का भार उठाये घूमते रहते थे। खुद उनकी हालत क्या थी? ब्रिटिश राज्य, देशी रियासतों, सरकारी नौकरशाही इन सबके कठोर क्रूर अत्याचारों, निरंकुश कार्यों के विरोध में जाने के लिये हर समय उन्हें तैयार रहना पड़ता···जेल, जुर्माना, 'प्रताप' की जमानत जब्ती आदि कितनी ही दुर्दशायें उन्हें घेरे रहतीं। कभी-कभी लगता 'प्रताप' की नींव अब डूबने ही वाली है, पर हर बार विद्यार्थी जी अपने धैर्य की बुलन्द पतवार से उसे बचा लेते। पीछे हटना तो उन्होंने सीखा ही नहीं था। घर की हालत सबसे बुरी रहती। पिता को दमा के दौरे, पर पुष्टिकारक दवा का साधन नहीं। घर में इतनी जगह नहीं कि सब एक साथ रह सकें, इसलिये कभी-कभी फूल बाग (कानपुर) की बेंचे ही शैया का काम देतीं। उनके साथ श्रीकृष्णदत्त जी पालीवाल इसके मार्मिक साक्षी थे। उनके अनुसार "घर में जगह की कमी से उसने कितनी ही दुपहरिया फूलबाग (कानपुर) की बेंचों पर बिताई है।" पर इन सबका न मलाल न रंज। तकलीफों की कोई शिकवा शिकायत नहीं। जैसे पुजारी अपना सब कुछ भगवान के चरणों में अर्पित करके निश्चित हो जाता है, वैसे ही उन्होंने जनता जनार्दन की सेवा में अपने को अर्पित कर डाला था। आज की जन-सेवा तो वर्गों, श्रेणियों और परिस्थितियो में बँधी हुई है। इतना ही नहीं आज तो प्रदेश, भाषा यहाँ तक कि कुछ जाति और सम्प्रदायगत आइने, सेवा चौखट में लगाये जा रहे हैं, पर उनकी सेवा वृत्ति तो सारे देश, समाज और समग्र पीड़ित मानवता के लिये भेंट थी। 'प्रताप' के सहयोगी और बाद में दैनिक 'नवराष्ट्र' पटना के सम्पादक श्री देवदत्त शास्त्री ने ऐसी ही वृत्ति की चर्चा की है। "प्रताप प्रेस सदा आर्त और असहायों का सहायक सदन बना रहता। जिसे कहीं कोई सहारा न मिले, उसे प्रताप प्रेस में आश्रय मिल जाता और सहारा भी। विद्यार्थी जी के साथ अपने चार वर्ष के जीवन में मैंने शायद ही किसी को उनके पास से विमुख होकर जाते देखा हो। भोजन के लिये तो मानों वहाँ सदाव्रत ही खुला था। जेलों में गये राजनैतिक कार्यकर्ताओं के निःसहाय परिवारों की वे सदा खोज-खबर लेते तथा मदद पहुँचाते रहते थे। किसी के घर पर रुपया भेज रहे हैं तो कहीं कपड़े ही जा रहे हैं। किसी की कन्या की शादी करवा रहे हैं तो किसी के लड़के का पढ़ने का इन्तजाम कर रहे हैं।"

आर्थिक दृष्टि से पीड़ित कितने ही हिन्दी लेखक, चारों ओर से भटक कर, निराश होकर इसी सहायता बिन्दु की ओर खिंचे चले आते थे। ऐसे आने वालों को उन्होंने अपना ही बन्धु माना। सहायता के इच्छुक ऐसे एक विशिष्ट लेखक को लिखे गये उनके पत्र की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

"प्रियवर,

आपका कृपा पत्र प्राप्त हुआ। आपने जो कुछ लिखा, वह मुझे हृदय से स्वीकार है। 'प्रताप' आपका है। आप वैसे कहें तो 'प्रताप' की सारी शक्तियाँ आपके चरणो मे अर्पित हो जायें। पैसों की बात नही, ऐसी आत्माओं के कुछ भी काम आना सौभाग्य है, अपने काम का पोषण है, लक्ष्यसिद्धि की ओर बढ़ना है। दैनिक प्रताप २० तारीख से निकलने लगेगा। आप उसके लिये छोटे-छोटे लेख लिखें।...आपकी जो आज्ञा होगी, 'प्रताप' उसे आपके चरणों में रखेगा।

आपका

गणेश शंकर विद्यार्थी

सेवावृत्ति की यह परम्परा जितनी ही उज्ज्वल थी, उतनी ही सर्वव्यापी भी। इस व्यापकता के दो बड़े मोहक परिवेश थे। देश की आजादी के लिये सर्वस्व समर्पण की भावना को जीवन्त रूप देने वाले क्रान्तिकारियों की सहायता करना उस समय न केवल कठिन वरन् संकटमय भी रहता था। विडम्बना यह कि एक विशेष विचारधारा से प्रभावित कुछ विशिष्ट लोग ऐसे क्रान्तिकारियों के प्रति सहानुभूति नहीं रखते थे। कांग्रेस की विचारधारा भी स्पष्टतः उनके कार्यों का समर्थन नहीं करती थी। पर विद्यार्थी जी ने कभी इन बातों की परवाह न की। चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह, शचीन्द्रनाथ सान्याल तथा उनके कितने ही साथियों को वे आश्रय देते, उनके लिये धन की व्यवस्था करते, उनके सुख-दुःख के साथी बनकर प्रोत्साहन देते। उस समय कांग्रेस की विचारधारा में कुछ महत्त्वपूर्ण कांग्रेसजन ऐसे क्रान्तिकारी देशभक्तों के लिए सहानुभूति रखना ठीक नहीं समझते थे। विद्यार्थी जी मात्र कांग्रेस-जन ही नहीं, संस्था के बड़े पदाधिकारी भी थे, किन्तु देश सेवा के क्षेत्र में भेदभाव उन्हें सहन नहीं था। श्री जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द ने विद्यार्थी जी पर लिखे गये अपने खण्ड काव्य में इस स्थिति का मार्मिक चित्रण किया है—

> "आजाद चन्द्रशेखर उनसे मिलने आते थे कई बार,
> थे भगतसिंह करते प्रताप से काम स्नेह पाकर अनन्य।
> चोटी के नेता शस्त्र क्रांति के उनका आदर करते थे।
> उनकी सहायता का अवसर पा, वह होते थे सदा धन्य।"

इसी भावना के अनुरूप उन्होंने 'प्रताप' को तत्कालीन क्रान्तिकारियों के लिये सहायता, स्नेह तथा आश्रय का केन्द्र बिन्दु बनाया था। सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी—श्री रासबिहारी बोस के विश्वस्त साथी श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल आजन्म कालापानी की सजा भोगने के बाद, जब पुनः उत्तर प्रदेश (बनारस) आये तब विद्यार्थी जी ने उन्हे

कानपुर बुलाकर बराबर सहयोग दिया। स्वतन्त्रता संग्राम की ऐतिहासिक घटना का काकोरी केस के क्रांतिकारियों की सहायता के लिये विद्यार्थी जी ने ही 'प्रताप' के माध्यम से आवाज बुलन्द की। काकोरी केस के सभी क्रांतिकारी देश-प्रेम पर बलि होने वाले वीर पुरुष थे।

स्वतन्त्रता पाने की अदम्य आकांक्षा, विदेशी शासन के अत्याचारों से देश की मुक्ति उनके जीवन का विराट स्वप्न था। इसके लिये जीवन का बलिदान, उनके लिये एक सहज प्रक्रिया थी। काकोरी केस के श्री अश्फाक उल्ला खाँ की निम्नांकित पंक्तियाँ उन सभी क्रांतिकारियों के भावों की समग्र अभिव्यक्ति थी—

"कुछ आरजू नहीं है, आरजू तो यह है,
रख दे कोई जरा सी खाके वतन कफन में।"

ऐसी बलिदानी भावनाओं के प्रसार के लिये उन्होंने 'प्रताप' के माध्यम से शंख-नाद किया। ऐसे क्रान्तिकारियों के लिए विद्यार्थी जी सभी व्यवस्था करते। लाहौर षड्यन्त्र केस के हुतात्मा यतीन्द्रनाथ दास का नाम इस देश के इतिहास में कभी नही भुला जा सकेगा। सरदार भगतसिंह की सहानुभूति में उन्होंने आमरण अनशन किया। ब्रिटिश सरकार ने बल प्रयोग करके यतीन्द्रनाथ को अपने निश्चय से डिगा देना चाहा, पर सब व्यर्थ हुआ। उन्होंने प्राण दे दिया, पर अनशन नहीं तोड़ा। ऐसे ही बलि-दानियों के लिये भारतीय आत्मा की पौरुषपूर्ण वाणी गूंजी थी :—

द्वारा बलि का खोल, चल भूडोल कर दें।
एक हिमगिरि एक सिर का मोल कर दें।
मसल कर अपने इरादो को उठाकर,
दो हथेली है कि पृथ्वी गोल कर दें।

ऐसे बलिपंथी यतीन्द्रनाथ के लिये विद्यार्थी जी लाहौर तक गये। अपनी संवेदना को उन्होंने आँसुओं के तरल प्यार के रूप में प्रस्तुत किया। "इन्क्लाब जिन्दाबाद", नारा के प्रवर्तक शहीदे आजम भगतसिंह के लिये तो विद्यार्थी जी बराबर सहायक मित्र और स्नेही रहे। शहीद भगतसिंह के तेजस्वी, निर्भीक, वीरोचित व्यक्तित्व को ध्यान मे रखकर उर्दू के सुप्रसिद्ध शायर जोश मलीहाबादी की ये पंक्तियाँ बार-बार याद आ जाती है—

काम है मेरा बगावत,
नाम है मेरा शबाब।
मेरा नारा इनकिलाब ओ इनकिलाब।

ऐसे विप्लवी भगतसिंह कई महीने प्रताप प्रेस में बलवन्तसिंह के छद्म नाम से टिके रहे।

इसी प्रकार तत्कालीन देशी राज्यों की अनंत दुःखभरी गाथा की ओर पत्रकारों में सबसे पहिले विद्यार्थी जी का ध्यान गया। इन राज्यों की प्रजा मानो मध्यकालीन-युग में रहा करती थी। वहाँ स्वतन्त्रता नाम की कोई वस्तु नहीं थी, मानवोचित व्यवहार

की आशा व्यर्थ थी। निरन्तर शोषण, गरीबी और दमन का चक्र चलता रहता था। रोजी रोटी की मुश्किल ही नहीं, बहुधा बहू और बेटी की अस्मत का ठौर ठिकाना नही रहता था। कुछ रियासतों में तो नादिरशाही जुल्मों का दौर चलता ही रहता था। संक्षेप में—ये रियासतें साँप की बिलों के समान थीं, जहाँ हाथ डालना जिन्दगी से खेल करना था। यदि वहाँ कभी कोई चतुर मदारी पहुँच जाता, तो उसे विष के स्थान पर एकाध मणि देकर दूर कर दिया जाता। आसक्ति, माया, जादू, प्रपंच, लोभ, दमन की ऐसी दुनिया में इस जन-सेवक ने निःस्पृहता और निर्भयता से प्रथम प्रवेश करने का साहस किया। उनके 'प्रताप' ने इन रियासतों के लौह द्वारों की शलाकों को मोड़कर हिन्दी जगत में सर्वप्रथम प्रवेश करने का ऐतिहासिक साहस दिखाया। इस दुनिया के दुःख-दर्दों, यंत्रणाओं, अभिशापों को प्रकट करते ही तत्कालीन कई नरेश तक्षकों ने विद्यार्थी जी को विष और मणि दोनों का खेल दिखाया। वे न विष से डरे और न मणि के आकर्षण में बँध सके। देशी रियासतों की जनसेवा उनके लिये अनेक बार संकट का अम्बार लेकर आई, पर सब व्यर्थ। वहाँ तो इस मन्त्र का जाप होता था—

"सरक जाय यह ऐसा सर नहीं है।
बदल जाय यह वह हिम्मत नहीं है।"

कष्टों की अनवरत् वर्षा में वे कभी सेवा मार्ग से विचलित न हुए। यह मार्ग संकटपूर्ण ही नहीं था, प्रलोभनों के कारण विकट भी था। श्री सुरेन्द्र शर्मा के कथनानुसार "अनेक नरेशों ने रिश्वत देकर विद्यार्थी जी को अपने माया जाल में फँसाना चाहा, किन्तु वे सचमुच अपने पथ में हिमाचल की भाँति अटल रहकर बड़ी निःस्पृहता के साथ सार्वजनिक सेवा में लगे रहे।" देशी रियासतों की प्रजा की अन्तर्पीड़ा 'प्रताप' मे सदैव अभिव्यक्त होती रही। वहाँ के रहस्यपूर्ण कार्यों की सूचना वे विश्वस्त प्रतिनिधियों से प्राप्त करके बराबर 'प्रताप' में छापते रहे। कभी-कभी ये प्रतिनिधि राज्य शासकों के आतंक से अपना नाम तक प्रकट न करना चाहते, तब भी केवल उनको ईमानदारी का विश्वास कर लिया जाता। पत्रकारिता के कंटकाकीर्ण क्षेत्र में विश्वास करने का यह स्वभाव क्या आज भी प्राप्त हो सकता है? उनका यह स्वभाव, क्या उनके संवेदनशील व्यक्तित्व का ही एक तेजस्वी पक्ष नहीं था? इस पक्ष से सम्बन्धित कितनी ही घटनाएँ उनकी स्मृतियों की अमिट हस्ताक्षर बन गई हैं। राजपूताना के प्रसिद्ध जन-सेवक और लेखक श्री विजयसिंह पथिक की ऐसी ही कहानी है। राजपूताना के देशी राज्यों में होने वाले अत्याचारों की लिपिबद्ध कहानियाँ 'प्रताप' में प्रकाशनार्थ आने लगीं। एक किश्त, दो किश्त और कई किश्त पर सब में एक ही प्रार्थना थी कि लेखक का पूरा नाम नहीं छापा जाय। शिकायत के भेजने वाले ने अपना छद्म नाम "बी० एस० पथिक" बताया था। उसने मानवता के नाम पर जरूर विश्वास दिलाया था कि सारी शिकायतें सही हैं। बस इसी पर वे चिट्ठियाँ 'प्रताप' में छपने लगीं। इस प्रकार राजपूताना के जन-जीवन की वेदना निरन्तर प्रकट होने लगी पर 'प्रताप' सम्पादक को कितने कष्ट झेलने पड़े इसे कौन जान सकता है?

इस प्रसंग का एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष है। देशी राज्यों की प्रजा ही नहीं, राजाओं के कष्ट को भी 'प्रताप' प्रकाशित करने से नहीं चूकता। राज्य के जो सत्ताधारी 'प्रताप' को दमन से नष्ट कर देना चाहते, अपने राज्य प्रवेश पर रोक लगा देते, भरी हुई थैलियों से सम्पादक का मुंह बन्द कर देना चाहते, उनके दुःखों को भी प्रकाशित करना क्या हृदय-विशालता का सर्वोच्च उदाहरण नहीं है ? एक घटना याद आती है। इन्दौर नरेश महाराज तुकोजीराव ने राज्य के अत्याचारों को प्रकाशित करने के कारण 'प्रताप' के राज्य प्रवेश पर रोक लगा दी थी। अकस्मात् जब चारित्रिक आरोपों के कारण ब्रिटिश शासन उन्हें गद्दी से उतारने लगी, तब 'प्रताप' ने ही सर्वप्रथम उनका पक्ष लिया और यों चुनौती दी ! "जब व्यक्तिगत चरित्र की बातों के लिये देश के अन्य राजा गद्दी से नहीं उतारे जाते तब इन्दौर नरेश ही क्यों उतारे जायें ?" 'प्रताप' की इस सम्मति ने उनके पक्ष में नया वातावरण तैयार किया। इस प्रकार अन्याय चाहे प्रजा के साथ हो या राजा के साथ उन्हें सहन नहीं था। अन्याय से लड़ना ही विद्यार्थी जी का परम पावन धर्म था। इस धर्म-पालन का सुदृढ़ माध्यम था 'प्रताप'। हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र मे उनके 'प्रताप' ने राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक सेवा का विपुल तथा महत् कार्य किया। हिन्दी संसार में 'प्रताप' का कितना प्रचार था, यह स्वर्गीय श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की इन पंक्तियों से अनुमान किया जा सकता है। "हिन्दी पत्रकारिता के विकास में एक समय ऐसा रहा है जब बिहार और उत्तर-प्रदेश की जनता समाचार पत्र का अर्थ केवल 'प्रताप' ही समझती थी और यह धारणा गणेश शंकर के लोक मानस का प्रतिनिधित्व करने के सामर्थ्य को दरसाती है।" 'प्रताप' की उपलब्धि का यह एक ऐतिहासिक पक्ष है।

देशी रियासतों की जनता के ऊपर होने वाले प्रत्येक अन्याय का विरोध वे जिस निर्भीकता से करते थे, उसकी अब कहानियाँ ही शेष हैं। ये कहानियाँ सामान्य नहीं, गौरव गाथाएँ हैं। इस विरोध के लिये उन्हें आजीवन परेशानी भोगनी पड़ी। अन्याय के वे जन्मजात शत्रु थे। ऐसी लड़ाई में उन्हें भेदभाव करना अथवा खतरों से डरना असह्य था। यहाँ एक उदाहरण इस तथ्य को भली-भाँति उजागर कर देता है। भोपाल रियासत में हिन्दुओं के साथ न केवल भेदभाव ही होता वरन् उनके धार्मिक, सामाजिक अधिकारों का भी यदाकदा हनन होता रहता था। विद्यार्थी जी की नीति के अनुसार एक बार 'प्रताप' में इस विषय पर टिप्पणी प्रकाशित हो गई। उसका शीर्षक था— "बेगम के शासन में भोपाल के हिन्दू।" टिप्पणी छप जाने के कई महीने बाद ब्रिटिश शासन की ओर से, 'प्रताप' को एक नोटिस दी गई। कानपुर के तत्कालीन अंग्रेज कलेक्टर ने उन्हें बुलाकर मौखिक चेतावनी भी दे दी। इस प्रसंग में विद्यार्थी जी ने बड़ी निर्भीकता से कलेक्टर का विरोध किया और कहा कि इस नोट में कोई आपत्तिजनक बात नहीं है। उस समय प्रचलित कानून 'प्रिंसेज प्रोटेक्शन एक्ट' के अनुसार कलेक्टर इस मत से कदापि सहमत नहीं था। 'प्रताप' के सहायक सम्पादक श्री सुरेन्द्र शर्मा के शब्दों में विवरण इस प्रकार है—

"उन्होंने (विद्यार्थी जी) दफ्तर में आकर 'प्रताप' की फाईल मँगवाई और पूछा कि यह नोट किसने लिखा था ? मैंने कहा कि यह नोट मेरा लिखा है। उन्होंने कलेक्टर की चेतावनी की बात सुनाई और कहा कि इसके अन्तिम वाक्य का एक्सप्रेशन (भाव प्रकटीकरण) जरा वल्गर (भद्दा) है और कुछ नहीं।" इस नोट के सम्बन्ध में भोपाल सरकार के अनुरोध पर भारत सरकार ने यू० पी० (उत्तर प्रदेश) गवर्नमेन्ट को कार्यवाही का निर्देश दिया। इसी के फलस्वरूप विद्यार्थी जी को कलेक्टर की चेतावनी का दण्ड मिला। ऐसे कितने ही दण्ड उन्हें मिलते रहे, पर उन्होंने कभी भी जनता का साथ नहीं छोड़ा। प्रत्येक संकट और दुःख में वे जन-जन के लिये अभेद्य दुर्ग बन जाते थे।

विद्यार्थी जी में साहित्यिक वृत्ति तथा पत्रकारिता की रुचि जन्मजात थी। 'प्रताप' निकलने के पूर्व वे 'गजेन्द्र', 'श्रीकांत एम० ए०', आदि उपनामों से प्रायः लिखा करते थे। 'प्रताप' के प्रकाशित होने के बाद भी वे कभी-कभी कल्पित नामों से लिखा करते। 'प्रताप' के पृष्ठों में 'भारतीय युवक', 'हरि', 'दिवाकर', 'वक्रतुण्ड', 'कलाधर', 'लम्बोदर', 'वन्दे मातरम्', आदि नामों से उनकी रचनाएँ प्रकाशित हुईं। वे हिन्दी साहित्य भण्डार को पश्चिमी विचारकों, क्रांतिकारियों एवं साहित्य सेवियों की श्रेष्ठ रचनाओं से भर देने का भी स्वप्न देखते थे। पश्चिमी विचारकों में रूसो, जान स्टुअर्ट मिल, रस्किन, टालस्टाय, मोपांसा, अनातोले, बर्नार्ड शा और विक्टर ह्यूगो आदि की कृतियों का उन्होंने विशद अध्ययन किया था। इन सबकी रचनाओं का अनुवाद हिन्दी में होना चाहिये, निजी चर्चाओं में वे प्रायः कहा करते। सन् १९२१-२२ में जब वे पहली बार जेल गये, तब उन्हें लिखने का थोड़ा अवकाश मिला। विक्टर ह्यूगो की रचना 'नाईन्टी थ्री' का 'बलिदान' नाम से उन्होंने अनुवाद किया। इसी तरह 'ला मिजरेबुल' का अनुवाद 'आहुति' नाम से १९३० में पूर्ण किया। सम्पादक और वह भी 'प्रताप' जैसे ओजस्वी पत्र के सम्पादक होने के कारण हिन्दी साहित्य की समस्त गतिविधियों से वे बराबर परिचित रहते। हिन्दी भाषा एवं साहित्य के विकास को वे राष्ट्रीय आन्दोलन का एक सशक्त माध्यम मानते थे। आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व उन्होंने हिन्दी को विश्व रंगमंच की प्रमुख भाषा होने की विश्वासपूर्वक उद्घोषणा की थी। ...हिन्दी साहित्य सम्मेलन के गोरखपुर अधिवेशन में अध्यक्ष पद से दिए गए उनके भाषण की ये पंक्तियाँ आज भी हमारे लिये प्रेरक एवं मार्गदर्शक हैं। उन्होंने कहा था ...."मुझे तो वह दिन दूर नहीं दिखाई देता जब हिन्दी साहित्य अपने सौष्ठव के कारण साहित्य जगत् में अपना विशेष स्थान प्राप्त करेगा। हिन्दी भारतवर्ष ऐसे विशाल की राष्ट्रभाषा की हैसियत से न केवल एशिया महाद्वीप के राष्ट्रों की पंचायत में, किन्तु संसार भर के देशों की पंचायत में एक साधारण भाषा के समान बोली भर न जायेगी, किन्तु अपने बल से संसार की बड़ी-बड़ी समस्याओं पर भरपूर प्रभाव डालेगी।"

विद्यार्थी जी को आजीवन अनेक सभाओं, समारोहों में भाग लेना पड़ता था। लेखन शक्ति के साथ उनमें श्रेष्ठ वक्तृता-कला भी थी बनता की भावनाओं को,

सही रूप में व्यक्त करने की उनमें कला थी। उनके वक्ता बनने की भी बड़ी रोचक कहानी है। 'प्रताप' सम्पादक बनकर सार्वजनिक जीवन में भाग लेते हुए उन्हें शुरू-शुरू में भाषण देने में शर्म मालूम होती। सभा के रंगमंच पर पहुँचकर उन्हें चिंता लग जाती थी कि कहीं बोलना न पड़े। पर ईश्वर ने उन्हें वाणी की कुशलता दी थी। जैसे एक वनखंड में विराट निर्झर का स्रोत भारी शिलाखण्ड से रुक गया हो और शिलाखण्ड हटते ही अनवरत् गति से प्रवाहमान हो उठे, वैसे ही सन् १९२० के असहयोग आन्दोलन में विद्यार्थी जी की वाणी पर से लज्जा और झिझक का शिलाखण्ड हट गया। कानपुर के श्रद्धानन्द पार्क में एक सभा का आयोजन था। असहयोग आन्दोलन के सम्बन्ध में विभिन्न वक्ताओं के विचारों का संगम। इसी बीच में मजा लेने के लिये इस दुबले-पतले, संकोचशील व्यक्ति को किसी ने बोलने को कहा। विनोद में दो-एक आग्रह और किये गये। कुछ का आग्रह उपस्थित जन-समुदाय का आग्रह बन गया। कुछ मित्रों ने बलात् खींचकर उन्हें मंच पर ला दिया। कुछ ने तालियाँ पीट दीं। कुछ ने बोलिये-बोलिये की रट लगा दी। एक नव-परिणीतावधू के समान वह दुबला-पतला ऐनकधारी जवान शरमाता-शरमाता धीरे-धीरे कुछ कहने लगा। दृश्य तो सचमुच बड़ा सुन्दर रहा होगा। इसका पूरा चित्र श्री बालकृष्णशर्मा 'नवीन' के शब्दों में इस प्रकार रखा जा सकता है।

"उनके ओठ हिले, पहले तो कुछ अस्पष्ट शब्द निकले, पर सहसा गंगा उमड़ पड़ी। एक दो तीन चार पाँच, मिनट पर मिनट बीतते गये। वाक्य के उपरान्त वाक्य निकलते गये। जनता अवाक्, मंत्र मुग्ध चित्र लिखित, स्तम्भित और पूजा भाव भरित। स्रोत के उद्गम से जैसे मौन का अवरोध सहसा हट गया है और वाक्धारा बह रही है। गणेश जी की वाणी सुनकर जनता विचलित थी, रो रही थी, मित्रगण चकित थे। भर गये थे, और भींग गये थे उनकी वाणी की अजस्र धारा से। गणेश जी की जन-हृदय को झकझोरने वाली वाक्यावलियाँ गूँज रही थीं उस सान्ध्य नीरव आकाश में। भाषण समाप्त हुआ। लोग चरणों में झुकने लगे। उत्तर प्रदेश ने एक अत्यन्त ओजस्वी वक्ता अपने बीच अवतरित होते देखा।"

इस ओजस्वी वक्ता, कलम के धनी संपादक, निर्भीक लोकसेवक के व्यक्तित्व के कितने ही प्रबल पक्ष हैं। प्रत्येक पक्ष का समुचित उद्घाटन थोड़े में सम्भव नहीं है पर कुछ पक्षों का उल्लेख आवश्यक है। इस व्यक्तित्व का एक पक्ष, मानवता का एकनिष्ठ पुजारी तथा संवेदनशीलता के प्रबल वाहक की चर्चा पूर्व में हो चुकी है। संवेदनशीलता का ही यह सर्वव्यापी प्रभाव और प्रतिफल था अनेक मित्रों, स्नेहियों, सहायकों के कष्टों को स्वयं झेलकर उन्हें दुःखमुक्त करना। इतना ही क्यों, साहित्य और राजनीति दोनों के क्षेत्र में, यदि इन वरदानी हाथों ने स्पर्श शक्ति न दी होती तो बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्री कृष्णदत्त पालीवाल, विष्णुदत्त जी शुक्ल, सद्गुरुशरण अवस्थी, डॉ० रामकुमार वर्मा जैसे लेखकों का आलोक इतना ही तीव्र होता, कौन जाने? पं० माखनलाल चतुर्वेदी, श्री हरिभाऊ उपाध्याय, मुंशी अजमेरी वर्मा और राष्ट्रकवि

मैथिलीशरण गुप्त के व्यक्तित्व-निर्माण में इस व्यक्ति ने किसी न किसी प्रकार प्रेरणा, सहायता या शक्ति दी, इसे अस्वीकार करना कठिन है। प्रेमचन्द जी की आरम्भिक रचनाओं को 'प्रताप' में छापकर उन्हें सामने लाना हिन्दी साहित्य की एक ऐतिहासिक घटना है। उनकी संवेदनशीलता की गाथा जितनी ही उज्ज्वल है उतनी ही व्यापक और अमिट भी। इसकी व्यापकता और अमरता की पुष्टि उनके कितने ही सहयोगियो ने विभिन्न रूपों में की है। मालवा जनपद से भागकर एक गरीब ब्राह्मण का लड़का उनके चरणों में रहकर हिन्दी की राष्ट्रीय काव्यधारा का उज्ज्वल भविष्य बन गया। उसे ऐसे भविष्य का स्वरूप देने में इसी वरदानी व्यक्तित्व का प्रबल हाथ था। "हम विषपायी जनम-जनम के" कहने वाले उस कवि 'नवीन' ने स्वयं अपनी मार्मिक कहानी कही है—

"आज भी आपको अनेक ऐसे जन मिलेगें, जो गणेश जी द्वारा उपयुक्त हुये हैं। अनेक ऐसे मिलेगें और उनकी संख्या सहस्रों में है जिन्होंने गणेश जी के लेखों से अनुप्राणित होकर देश के स्वातन्त्र्य युद्ध में भाग लिया। सहस्रों-लक्षों में अनेक सिद्धहस्त और रस साधक साहित्य स्रष्टा हैं, जिन्हें गणेश जी ने प्रेरणा प्रदान की है।...मैं अपने विषय में क्या कहूँ? मेरे जीवन में गणेश बहुत अधिक घुले-मिले हैं। उनके चरणों मे बैठकर कुछ सीखने, कुछ समझने, कुछ लिखने, कुछ बोलने का पाठ मैंने पढ़ा। उन्हीं के चरणों में बैठकर सार्वजनिक कार्य करने की दीक्षा प्राप्त की। उन्हीं के पुण्य आशीर्वाद से उन्हीं के उत्तराधिकारी के रूप में, वर्षों तक कानपुर जैसे विकट किन्तु बड़े स्नेहदानी नगर की यत्-किंचित् सेवा करने का अवसर मिला। गणेश शंकर के प्रयास ने मेरे जीवन के मध्याह्न को संध्या में परिणत कर दिया।" प्रोफेसर सद्गुरुशरण अवस्थी ने भी बहुत कुछ ऐसा ही अनुभव किया है। अपनी श्रद्धांजलि में उन्होंने लिखा है, "गणेश जी मेरे बाल्यकाल में आये, तरुणाई की प्रेरणा बने और श्रद्धा-भाजन बनकर महामानव के रूप में टिके हैं। मैं एक निर्धन छात्र था। गणेश जी होनहार तरुणों को सहायता दिया करते थे। मेरा उनसे परिचय हुआ। दीन और दीनदयाल का परिचय दीता की सड़क पर हो जाया करता है।...उनमें ऐसी परिचालन-शक्ति और ऐसा उलझाव था कि तरुण उनके पीछे-पीछे चलने में अपना गौरव समझते थे और उनके संकेत पर मर मिटने के लिये प्रस्तुत रहते थे।"

तो संवेदनशीलता की यह कहानी सामान्य, विशेष, परिचित, अपरिचित, सबको अपनी छाया में लेकर चलती थी। जहाँ भी दुःख हो, पीड़ा हो, अशान्ति और विग्रह हो, अन्याय और शोषण हो, यह कहानी प्रभाव दिखाती, अग्रसर होती रहती। विद्यार्थी जी गोस्वामी तुलसीदास की उक्ति के अनुसार मित्र को "दुख रजमेरु समाना" नहीं, नितांत अपना ही मानते थे। घटनाएँ एक नहीं अनेक, चित्र थोड़े नहीं विपुल, साक्षियाँ दो-चार नहीं असंख्य हैं, उनकी परदुःख-कातरता के। उनकी इस परदुःख-कातरता की एक रोचक कहानी चिरगाँव में लिखी गयी थी। उनके अनन्य मित्र राष्ट्र कवि गुप्त जी ने इसे इस प्रकार सुनाया है

"एक बार शाम को देखता हूँ कि गणेश जी आ रहे हैं, उनके पीछे-पीछे एक देहाती युवक और एक स्त्री गठरी-पोटली लिये हैं। मैंने पूछा—इन्हें कहाँ से पकड़ लाये ?—बोले ये लोग घर से रूठकर बम्बई भागे जा रहे थे। घर में मजे में हैं पर आपस में कुछ कहा-सुनी हुई और स्त्री को लेकर चल दिये। सारे गाँव शहर की ओर भाग रहे हैं, और शहर वाले ग्राम जीवन के लिये तरस रहे हैं। हमने सोचा, कहाँ कष्ट भोगेंगे, इसलिये ट्रेन से उतार लिया। अब इनके टिकटों के बाकी दाम वापस लेने हैं और इन्हें घर पहुँचा देना है। मैंने कहा—तुमने उस चमार की बात सुनी है, जो एक बार कुएँ में गिर पड़ा था। वहाँ उससे एक मेंढक ने पूछा तू कौन है ? उसने अपनी जाति बतलाई, तो मेंढक महाशय ने अपना एक पैर पसार कर कहा—जरा मेरे जूतों का नाप तो ले लेना। सो तुम कहीं जाओ, तुम्हारे पीछे एक न एक बेगार लगी ही रहेगी।"

उनके व्यक्तित्व का दूसरा उल्लेखनीय पक्ष है संघर्षप्रियता। जीवन के प्रभात से सन्ध्या तक संघर्ष, अन्याय-असत्य से, अनाचार-शोषण से, अभाव-दरिद्रता से चिरन्तन संघर्ष। यह संघर्ष जितना ही विकट, उतना ही विपुल, जितना ही कठोर, उतना ही अनवरत था। ऐसे संघर्ष के प्रबल झंझावातों में जो व्यक्तित्व अडिग निश्चल खड़ा रहे, वह अप्रतिम ही नहीं वन्दनीय होता है। ऐसे लोग कष्ट में पलते हैं, आपत्तियों से खेलते हैं, अभावों में मुस्कराते हैं, अन्याय एवं असत्य के उन्मूलन मंत्र का जाप करते हैं। निजी सुख-सुविधा उनके लिये होती नहीं, और न इस पर उनका ध्यान ही जाता है। वे तो 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' अपने को समर्पित कर देते हैं। यह अर्पण पूरी श्रद्धा, संकल्प और शक्ति से होता है। ऐसा ही अर्पण इस संघर्षप्रिय व्यक्तित्व ने किया था। इस अर्पण में जितने ही व्यवधान आये उतना ही उसका संकल्प दृढ़ से दृढ़तर होता गया। घर और बाहर दोनों जगहों के कष्ट उसे विचलित न कर सके। अपने गिरते हुए स्वास्थ्य सँभालने के लिये वह पुष्टिकारक भोजन न पा सका। घर में स्थान की कमी से ज्वर की अवस्था में उसने दुपहरिया फूलबाग (कानपुर) की बेंचों पर बिताई। दिन-प्रतिदिन काल के प्रहार से आहत, मृत्यु की ओर कदम बढ़ाने वाली अपनी पत्नी के लिये वह अधिक अच्छे इलाज की व्यवस्था न कर सका। अपने छोटे-छोटे बच्चों के लिये वह नियमित दूध न जुटा सका, पर उसने इसके लिये न कभी चिंता की, न कभी शिकायत। सार्वजनिक सेवा के लिये घर, परिवार क्या अपने शरीर की ही उसने परवाह न की। एक बार बीमारी की दशा में भी साम्राज्यवादी ब्रिटिश शासन ने उसे अपने लिये खतरा माना। महीना-भर भी न बीता कि वह जेल की काली-काली दीवारों का बन्दी बन गया। धूल मिली रोटी और दाल का पानी मात्र पाकर महीनों उसका शरीर गलता रहा और जब छूटा तो वह एक अस्थिपंजर मात्र था। उस अस्थिपंजर को देख कर कानपुर में रहने वाला उसका गुरु (जिसे हिन्दी संसार आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम से जानता है।) बिलखकर रो पड़ा। पर अस्थिपंजर तो अस्थिपंजर मात्र था, बड़ी मुश्किल से उसने झुककर गुरु के चरणों की धूल ली, मौन लौटकर फिर प्रताप प्रेस के पुराने जीवन में लग गया।

यह संघर्षमय जीवन कैसा था ? अभाव, अर्थ-संकट और आपत्तियों का नीरव अन्धकार। जरा कल्पना तो कीजिये'''कभी-कभी सम्पादक, मैनेजर, मशीन मैन और चपरासी सबका काम एक साथ करना। न्यायपूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति के लिये, विदेशी शासन की सिर पर लटकने वाली एक नंगी तलवार और इसके बीच निरन्तर खतरों से जूझते रहने की अदम्य अभिलाषा। इन संघर्षों में उसे अनवरत कष्ट भोगने पड़े और उसका अपराध क्या था ? केवल इतना कि वह अन्याय का जन्मजात विरोधी था। अन्याय, चाहे भीतर का चाहे बाहर का, व्यक्ति का या समाज का, राजाओं का या पूँजीपतियों का, साम्राज्यवादी शासन का या उसके पिट्ठुओं का, वह क्षण भर के लिये भी सहन न कर पाता था। फतेहपुर के जिला राजनीतिक कान्फ्रेंस की अध्यक्षता करते हुए उसने वीरोचित गर्जना की थी, "मैं लड़ाई का पक्षपाती हूँ। मैं समस्त सत्ताओं का विरोधी हूँ। फिर चाहे वह सत्ता मौजूदा नौकरशाही की हो, या जमींदारों की, धनवानों की हो, या ऊँची जातियों की।" इसी सिंहनाद के स्वरों में उसके व्यक्तित्व की गाथा गूँजती रही है। उसकी तेजस्विता की परीक्षा ब्रिटिश राज्य की जेलों ने कई बार लेना चाहा। एक बार अस्वस्थ होने पर उसे बार-बार माफी माँग लेने की सलाह दी गई। इसका सबसे ज्यादा विरोध किया उसकी जीवन-संगिनी ने अपने पत्र के इन शब्दो मे —"मैं कर्तव्य करते हुए तुम्हारी मृत्यु भी पसन्द करूंगी।" उत्तर में ऐसे ही ज्वलित अक्षर उस वीरपति ने लिखे—"कल तुम्हारा पत्र प्राप्त हुआ। तुमने जो कुछ लिखा है, ठीक है। माफी माँगने से अच्छा यह है कि मौत हो जाय। तुम विश्वास रखो, मैं ऐसा काम कभी नहीं कर सकता।"

नर्मदा के किनारे सतपुड़ा के जंगलों में अर्पण तथा समर्पण, बलिदान तथा वर-दान की बंशी बजाने वाली एक आत्मा विद्यार्थी जी की ही स्नेहिल छाया में'''"भारतीय आत्मा" के रूप में रेणु से पर्वत बन गई। उस भारतीय आत्मा नामक नायक ने इस व्यक्तित्व की कुछ रेखायें खींची थीं। उन्हीं रेखाओं को रंग से भरकर विद्यार्थी जी के इस व्यक्तित्व का कुछ परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है—

"जहाँ कहीं मनुष्य का अपने अभिमत के प्रति समर्पण है, जहाँ कहीं जीवन की कर्म से आराधना है, जहाँ कहीं उत्सर्ग और बलिदान के मोम दीप अंधकार को भगाने में अपनी बलि दे रहे हैं, जहाँ कहीं नगण्यता गणमान्यता को चुनौती दे रही है, जहाँ कहीं हिमालय की रक्षा में सिरों का हथेलियों पर लेकर मरण त्योहार मानने वाली जवानियाँ हैं, और जहाँ कहीं पसीना ही नगीना बना हुआ है, वहीं पर, केवल वहीं पर गणेश शंकर न दिखते हुए भी उपस्थित है।"

विकट संघर्षप्रिय हस्ती थी वह। तभी तो जीवन की अन्तिम साँस भी उसने संघर्ष में ही ली। आदर्श के लिये संघर्ष और सर्वस्व समर्पण भरी इस मृत्यु के महा-मानव से बापू को भी ईर्ष्या हुई थी। जब तक वे जीवित रहे, प्रसंग आने पर कहा करते, "गणेश शंकर जैसी मृत्यु मुझे मिले।" बापू का हुक्म मौत भी कैसे टालती। उन्हें भी वैसा ही आत्मार्पण करने का सुयोग मिला।

विद्यार्थी जी के शहीद होने की घटना को लेकर चिंतन करें, तो लगता है, ऐसा तो होना ही था। उनके व्यक्तित्व की पूर्णता के लिये यह अनिवार्य था। बलिदान के इतिहास में ऐसे ही अनिवार्य सत्य के अध्याय लिखे जाते हैं। यज्ञ बिना होम के पूरा नहीं होता, पूजा बिना समर्पण के अधूरी ही रहती है। आदर्श बलिदान शून्य होकर जीवित नहीं होता। शोभा वृद्धि के लिये पर्वत पर चोटी, भवन में कंगूरे, माला में सुमेर होता है। संगीत में अन्तिम आलाप होता है, प्रत्येक चित्र की अन्तिम रूप सज्जा होती है। विद्यार्थी जी के लिये उनका बलिदान व्यक्तित्व-चित्र की अंतिम रूप सज्जा थी।

परन्तु इस रूप सज्जा के लिये ईश्वर ने कितनी दुर्दम पृष्ठभूमि बनायी थी। कानपुर में १९३१ में होने वाला हिन्दू-मुस्लिम दंगा दानवता का तांडव नृत्य था। मानवता के लिये यह सूची-भेद अंधकार था, श्री 'नवीन' जी के शब्दों में "अधिकारी-गण दानव हो गये, कानपुरवासी दानव हो गये। मानवता का अवशेष लुप्त हो गया, तो क्या? एक मानव कानपुर में बच रहा था।" यह मानव ही नहीं, मानवता का निष्ठावान पोषक तथा सजग रक्षक भी था। कानपुर की समग्र मानवता जब डूब रही थी तब इस महामानव ने उसे बचाकर कानपुर ही नहीं, उत्तर प्रदेश ही नहीं, देश ही नहीं, विश्व मानवता की अमरता का जयघोष किया।

यह दंगा केवल दो सम्प्रदायों की उत्तेजना का प्रतिफल था, या विदेशी शासन का षड्यन्त्र? इसका उत्तर इतिहास जो कुछ दे, परन्तु प्रत्यक्षदर्शियों के अनुसार लगता था, कानपुर का शासन यन्त्र मर गया था। कानपुर उत्तर प्रदेश की राजधानी का अत्यन्त समीपी नगर था, इतना ही क्यों? वहाँ सशस्त्र पुलिस और सैनिकों की भारी संख्या एकत्र थी, फिर भी वहाँ ५०० लोग मारे गये और पचहत्तर लाख की सम्पत्ति स्वाहा हुई। इतने विशाल देश पर राज्य करने वाली अंग्रेजी सरकार की अकर्मण्यता एवं दुरभि-सन्धि का यह अकाट्य प्रमाण था। न्यायप्रियता का ढोंग रचने वाली उस विदेशी शासन पर यह अमिट कलंक है जो इतिहास में सदैव घृणा के साथ याद किया जायेगा।

२४ मार्च, १९३१ को दंगा प्रारम्भ हुआ। विद्यार्थी जी अस्वस्थ थे, और इसीलिए वे उस साल होने वाले अखिल भारतीय कांग्रेस के करांची अधिवेशन में नहीं जा पाये थे। अस्वस्थ होने पर भी वे कानपुर के प्रसिद्ध उद्योगपति तथा समाजसेवी श्री रामरतन गुप्त के साथ वे उस दिन प्रातः से रात्रि तक इस आग से जूझते रहे। कहीं विग्रह में शांति कराते, कहीं घिरे हुये लोगों को सुरक्षित स्थानों में पहुँचाते, कहीं घायलों को अस्पताल भिजवाते। सारा दिन इसी तरह बीत गया। दूसरे दिन २५ मार्च, १९३१ को प्रातः से ही वे फिर श्री गुप्त जी के साथ इसी कार्य में जुट पड़े। संयोग से पत्नी ने मना भी किया तो उसे उत्तर मिला—"जब मैंने संसार में किसी का कोई अहित नहीं किया है तब मेरा अहित कोई क्यों करेगा?" पर संसार का यह रूप सुकरात, ईसा मसीह, दयानंद और गांधी के बाद भी कब आयेगा, कौन उत्तर दे सकता है?

प्रातः से लेकर दोपहर तक उनका सेवा कार्य चलता रहा। दोपहर के कुछ पूर्व ही उन्हें सूचना मिली कि बंगाली मोहल्ले में करीब दो सौ मुसलमान घिरे पड़े हैं। रात में कुछ मारे गये हैं और शेष आज रात में खत्म कर दिये जावेगें। वे सीधे बंगाली मोहल्ले पहुँचे। वहाँ के मुसलमानों को सुरक्षित स्थानों में भेजने की व्यवस्था की। वहाँ एक साथ कई वृद्ध मुसलमानों ने उनके हाथ चूमकर उन्हें फरिश्ता कहकर पुकारा। बंगाली मोहल्ले से वे श्री रामरतन गुप्त के घर पहुँचे। रास्ते में कितने ही घायलों को उन्हें उठाना पड़ा था, कितनी ही लाशों को उठाकर अंतिम क्रिया के लिये भिजवाना पड़ा था। उनके कपड़ों में खून के दाग लग गये थे। वे नहाने की बात सोच रहे थे कि कुछ मुसलमान आये। उन्होंने सूचना दी—"चावल मंडी में कुछ मुसलमान घिरे हैं।" विद्यार्थी जी तुरन्त घर से बाहर निकल कर चल पड़े। जाते जाते कह गये—"मैं इनके साथ जा रहा हूँ। अभी दस मिनट में लौटा।"

इटावा बाजार पहुँचकर उन्होंने धधकते और गिरते हुए मकानों से मुसलमानों को निकाल कर अन्यत्र भेजा। इस समय उनके साथ दो स्वयं सेवक(एक हिन्दू और एक मुसलमान) थे। इस समय दिन के करीब ३ बज गये थे। इसी बीच उन्हें खबर लगी कि करीब दो सौ हिन्दू चौबे गोला नामक मुहल्ले में फँसे मृत्यु की बाट जोह रहे हैं। उस मुहल्ले के आसपास घनी मुस्लिम बस्ती थी। वहाँ किसी भी हिन्दू के जाने का अर्थ निश्चित मृत्यु थी पर वे तो हिंसा की विभीषिका से लड़ने वाले अहिंसक सिपाहियों मे से थे। चल पड़े बिना किसी डर, झिझक या चिंता के। साथ में वही दो स्वयं सेवक मात्र थे। वहाँ के हिन्दू पुरुषों, स्त्रियों, बच्चों को निकालकर लारी में बिठा ही रहे थे कि बगल के मुहल्ले से "अल्लाहो अकबर, मारो मारो" की आवाज उठने लगी। स्पष्ट था कि भीड़ हिन्दुओं से भरी लारी को रोक लेना चाहती थी। उस अपराजेय मृत्युंजयी, निर्भीक महामानव ने ड्राइवर से कहा—"लारी बढ़ा ले जाओ। मैं आगे बढ़कर उन्हें रोकता हूँ।" लारी चल पड़ी। भीड़ आगे बढ़ी और बलिदान के लिये तत्पर वह अहिंसक वीर भी शांत, गंभीर मुद्रा में बढ़ता ही गया। उस मुख-मुद्रा पर हिंसा से जूझने की, न्याय के लिये बलिदान होने की अमिट उमंगे रही होंगी। ध्वंसात्मक चीत्कार के बीच अन्तर में सृजन की अव्यक्त अभिलाषा रही होगी। उन सरल निश्चल आँखों में हिन्दू-मुस्लिम प्रेम की तस्वीर आई होगी और गूँज उठा होगा अधरों पर दृढ़ निश्चय और मरण संकल्प का स्वर। अकस्मात् एक मुसलमान युवक उनका हाथ पकड़कर कहने लगा—"ये सब पागल हैं, ये आपको मार डालेगें।" इतना ही नहीं जब वह उन्हें पकड़कर भागने लगा, तब वह मुख मुद्रा तेजस्वी हुई, अधर हिले और वीर स्वर निकले, स्वर जो दिग्-दिगन्त में गूँज उठे, स्वर जो काल के अज्ञेय बन्धन को खण्ड-खण्ड करके इतिहास में कालजयी बन गये, स्वर, जिन्हें गाँधी जी और नेहरू जी जीवन पर्यन्त याद करते रहे। वे स्वर थे—"क्यों मुझे घसीटते हो ? मैं भागकर जान नहीं बचाऊँगा। एक दिन तो मरना ही है, अगर मेरे मरने से इनकी प्यास बुझती है तो मैं तैयार खड़ा हूँ।"

स्वर गूंज उठे, हिंसा की चुनौती स्वीकार हुई पर दानवता के उन निर्दय पुतलों मे करुणा कहाँ ? कुछ लोग चिल्लाते ही रहे कि इन्होंने मुसलमानों को बचाया है, ये फ़रिश्ते हैं। पर कौन सुनता ? उनमें से एक ने भाले से प्रहार किया। दूसरी ओर से लाठियों की चोट सिर पर पड़ी। कुछ ही क्षणों में मानवता की वह प्रतिमूर्ति धराशायी हो गई। अटूट संवेदनशीलता तथा चिरंतन संघर्ष की कहानी समाप्त हो गई। कैसी अनुपम करुण गाथा है यह। इस कहानी के साथ याद आता है, उनका दिया गया वचन—"मैं अभी दस मिनट में आता हूँ।" पर ये दस मिनट आज तक क्या बीते नही ? कानपुर ने, उत्तर प्रदेश ने, हिन्दुस्तान ने इन दस मिनटों की कितनी लम्बी प्रतीक्षा की है, पर ये दस मिनट वे थे जो बीतकर फिर कभी नहीं लौटे। "मैं अभी लौटा आता हूँ" की प्रतिध्वनि आज भी तो गूँज उठती है, जब कानपुर के मजदूरों पर जुल्म होता है, जब उत्तर प्रदेश के किसानों पर नौकरशाही हावी होती है, जब देश के समाचार पत्र आदर्श और सिद्धान्त छोड़कर चाँदी के टुकड़ों पर बिकते है और जब भारत का सामान्य-जन स्वराज्य का सुख खोजता हुआ दिल्ली के कनाट प्लेस, कलकत्ता की चौरंगी और लखनऊ के हजरतगंज में भटकता फिरता है। अस्तु, यह सारी कथा बलिदान की वह दिव्य लौ है जिसे स्मरण करके एक आह भरनी पड़ती है···

जिन्दगी है या कोई तूफान है,
हम तो इस जीने के हाथों मर चले।

इस तरह देश के राष्ट्रीय संग्राम के इतिहास में २५ मार्च, १९३१ की तिथि अविस्मरणीय होकर बलिदान दिवस बन गयी है। कहा जाता है कि मरने के बाद विद्यार्थी जी के शव को छिपा दिया गया। दो तीन दिनों में जब लाश बदसूरत हो गई तब किसी प्रकार अन्य लाशों के साथ मिलाकर अस्पताल भेज दी गई। बलिदान के दो दिन बाद, दोपहर में बड़ी कठिनता से उनका शव पहचाना जा सका। श्री शिवनारायण मिश्र और डॉ० जवाहरलाल रोहतगी किसी प्रकार उस लाश को अस्पताल से निकलवा सके। अंग्रेजी राज्य के इतिहास में यह बात काले अक्षरों में लिखी जावेगी कि ऐसे महामानव की प्राण रक्षा तो दूर, उसके पता लगाने में भी तत्कालीन नौकरशाही ने तनिक भी रुचि नहीं दिखाई। श्री रामरतन गुप्त ने जब तत्कालीन अंग्रेज कलेक्टर मि० सेल से सहायता माँगी तो उसने टके सा उत्तर दिया—"यह काम शहर कोतवाल का है। वह जाने।" शहर कोतवाल ने इतनी भी कृपा नहीं की कि लाश खोजने के लिये कुछ पुलिस सहायता देती। उस दिन तो शाम हो गई थी, इसी बीच करांची कांग्रेस शिविर से महात्मा जी के निर्देश पर पं० जवाहरलाल नेहरू ने तार दिया कि दाह क्रिया दूसरे दिन की जाय। उसमें सम्मिलित होने के लिये करांची कांग्रेस प्रतिनिधि के रूप में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन और श्री बालकृष्ण शर्मा भेजे गये। नगर मे उत्तेजना न फैले, इसलिये उनके निधन का समाचार अत्यन्त गुप्त रखा गया था। फिर भी श्मशान घाट पर एक हजार की भीड़ एकत्र हो गई थी। आरम्भ में टण्डन जी ने अश्रुपूरित नेत्रों से श्रद्धांजलि दी, फिर पार्थिव शरीर आग की लपटों में भस्म हो गया।

विद्यार्थी जी निधन के समय उत्तर प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष थे। अध्यक्ष होने के बावजूद भी वे उसी वर्ष करांची में होने वाले अखिल भारतीय कांग्रेस अधिवेशन में नहीं शामिल हो सके थे। उनके सामने कानपुर की विकट स्थिति थी, उसका समाधान करना उन्हें उस अधिवेशन से अधिक महत्त्वपूर्ण लगा। उनका निधन केवल एक राजनीतिक नेता का निधन नहीं था, यह देश के एक महान् पत्रकार, लोक विख्यात जनसेवी, साहित्य मनीषी तथा महामानव का तिरोहित होना था। यही कारण था कि सारा देश इस राष्ट्रव्यापी शोक में संतप्त हो उठा। देश ही नहीं विदेशों के लोग भी इसमें शामिल हुये। सिंगापुर, बर्मा, फिजी, दक्षिण अफ्रीका, मारीशस तक के लोगों ने इस बलिदानी के प्रति अश्रुपूरित श्रद्धांजलि दी, देश की विभिन्न भाषाओं, हिन्दी, उर्दू, बंगाली, गुजराती, मराठी, पंजाबी, अंग्रेजी आदि के समाचार-पत्रों ने उनके लिये अग्रलेख तथा टिप्पणियाँ लिखीं।

करांची कांग्रेस की विषय निर्धारिणी समिति की बैठक में महात्मा गांधी ने कहा था—"श्री गणेश शंकर विद्यार्थी एक मूर्तिमान संस्था थे। ऐसे मौके पर उनकी मृत्यु का होना एक बड़ी दुखद बात है परन्तु यह उनका सौभाग्य था कि वे हिन्दू और मुसलमानों का एक दूसरे का सर तोड़ने से बचाते हुए मरे।"

करांची कांग्रेस ने विद्यार्थी जी के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव पास किया था उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"कानपुर के दंगे में युक्त प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष श्रीयुत गणेश शंकर विद्यार्थी की जो मृत्यु हुई है उससे कांग्रेस को अत्यन्त दुःख हुआ है। विद्यार्थी जी अत्यन्त त्यागी देश सेवकों में थे और सांप्रदायिक भावना से सर्वथा मुक्त होने के कारण सभी दलों और सम्प्रदायों के प्यारे बन गये थे। उनके परिवार वालों के प्रति संवेदन प्रकट करते हुए कांग्रेस इस बात पर अभिमान प्रकट करती है कि प्रथम श्रेणी के एक कार्यकर्ता ने खतरे में पड़े हुए लोगों के उद्धार तथा घोर उपद्रव और उन्मत्त उत्तेजना के समय शान्ति स्थापना के प्रयत्न में अपने को बलिदान कर दिया।" पूज्य बापू जैसा पारखी व्यक्ति इस शताब्दी में बहुत कम मिलेंगे। विद्यार्थी जी का निधन बापू के लिये जीवन भर अपूरणीय क्षति रही। बापू जीवन भर उन्हें याद करते रहे। उनके बलिदान के तुरन्त बाद उन्होंने 'यंग इण्डिया' में एक टिप्पणी लिखी जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार थीं—

"गणेश शंकर विद्यार्थी को ऐसी मृत्यु मिली कि हम सबको स्पर्धा हो। उनका खून अन्त में दोनों मजहबों के जोड़ने में सीमेन्ट का काम करेगा। यह जहर इतना अधिक फैल गया कि संभव है गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे महान् त्यागी और वीर पुरुष का रक्त भी आज उसे धो डालने के लिये काफी न हो।...मैं विद्यार्थी की विधवा पत्नी और बच्चों के साथ संवेदना नहीं प्रकट करता बल्कि ऐसे पुरुष को पति तथा पिता रूप मे प्राप्त करने के लिये उन्हें बधाई देता हूँ। वह मरे नहीं, आज वह तब से कहीं अधिक सच्चे रूप में जीवित हैं।"

इसी प्रकार बापू ने १९४० में उन्हें स्मरण करते हुए कहा था—"मैं यह नहीं मानता की गणेश शंकर की आत्माहुति व्यर्थ गयी। उसी की आत्मा मेरे दिल पर काम करती रहती है। मुझे जब उसकी याद आती है, तो इसकी ईर्ष्या होती है। इस देश में दूसरा गणेश शंकर नहीं हुआ, उसकी परम्परा समाप्त हो गयी। लेकिन वह इतिहास में अमर हो गया। उसकी अहिंसा सिद्ध अहिंसा थी। उसी की तरह कुल्हाड़ी से प्रहार सहते हुए मैं शान्तिपूर्वक मरूँ तो मेरी अहिंसा भी सिद्ध होगी। मेरा भी यह सुख स्वप्न है कि मैं उसी की तरह मरूँ। एक तरफ से एक मनुष्य मुझ पर कुल्हाड़ी चला रहा हो, दूसरा दूसरी तरफ से बर्छीमार रहा हो, तीसरा लाठी मार रहा हो और चौथा लात, घूंसे बरसाता जाता हो—ऐसी अवस्था में भी मैं खुद शान्त रहूँ और लोगों से भी शान्त होने को कहूँ और खुद हँसता हुआ मरूँ ऐसा भाग्य मैं चाहता हूँ। मैं ऐसा चाहता हूँ कि मुझे ऐसा मौका मिले और आपको भी मिले।" इतिहास साक्षी है कि बापू का यह स्वप्न पूरा हुआ।

इसी तरह दिनांक ११ मई, १९४६ को भी उन्होंने एक संदेश में विद्यार्थी जी की अमिट स्मृति की झलक दी थी, "गणेश जी के लिये मेरे मन में काफी आदर था और है"'लेकिन उनका स्मरण तो त्याग, शक्ति तथा सेवा करने से ही होगा न।" ऐसे सर्वव्यापी व्यक्तित्व के लुप्त होने पर व्यथा में सभी डूबे, पर डूबने वालों की दो एक कहानियाँ तो बड़ी ही मार्मिक हैं। उनके पत्रकार गुरु पं॰ महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की भी व्यथा ऐसी ही थी। उनके निधन के चार पाँच वर्ष बाद जब वे 'प्रताप' कार्यालय में आए तब आँखों में आँसू भरकर उन्होंने उस कुर्सी को प्रणाम किया जिस पर विद्यार्थी जी बैठकर लिखा करते थे। पिता की मृत्यु पर पुत्र हरिशंकर के मन में कितना भीषण झंझावात उठा था, इसकी व्यथा इन पंक्तियों के लेखक से उन्होंने व्यक्त की थी। सन् १९५२ मार्च का अवसर था। पितृ निधन के २१ वर्ष (इक्कीस वर्ष) बाद भी आदरणीय भाई हरिशंकरजी की आँखें स्मृति की करुणा से भर आई थीं। मेरी कल्पना दृष्टि में आज भी उनकी भरी हुई आँखें, सहमें हुए स्वर, करुण मुद्रा तथा तिलकनगर कानपुर के बँगले का वह सूना-सूना शान्त कक्ष सजीव हो रहा है। अफसोस, कहानी के साथ कहानी कहने वाले की आज आवाज बन्द हो चुकी है। यद्यपि उनके शब्दों पर आज १५ वर्ष के विस्मरण की धूलि जम गई है पर उनका आशय करीब-करीब इस प्रकार था—

"वह दिन मुझे अच्छी तरह याद है जब सायंकल साढ़े पाँच बजे ही मुझे अपने पिता के कत्ल होने का समाचार मिल गया था। परिवार में केवल दादी को यह बात मालूम थी। उन्होंने अन्य किसी को नहीं बताया था, सिर्फ इसलिये कि मुझे मालूम न हो सके। उनको अंदेशा था कि मैं इस अभागे संवाद को पाकर जाने क्या कर डालूँ ? पर मैं तो इसकी खबर पा चुका था। उस समय मेरी आयु १७ वर्ष की थी। पिता जी की मृत्यु मेरे लिये कितना भीषण संताप लेकर आई थी, आज भी सोचता हूँ तो हृदय काँप उठता है। इतना याद है। एक ओर तो मन शैथिल्य, नैराश्य और व्यथा के

अंधकार में डूब रहा था पर दूसरी ओर उनके व्यक्तित्व की विराटता का ध्यान आकर, आत्मविश्वास की अदृश्य शक्ति का रह-रह संचार भी कर रहा था। आज विश्वास नहीं कर पाता, उस समय मैं कैसे इतनी सुगमता से आघात को सह गया। सत्रह वर्षीय एक नवयुवक संध्या से लेकर प्रभात तक एक भयंकर तूफान, उथल-पुथल दिमाग में छिपाये बैठा रहा। आज सोचता हूँ कैसी वह सहनशीलता थी, जिसमें मैं बारह घंटे तक मौन जलता रहा। सुबह होने पर मैंने दादी को देखा। बाहर से वह मूक थी पर विषाद की गहन काली छाया उनके चेहरे पर प्रकट हो रही थी। मैं अपने को रोक न सका, दौड़कर उनके चरण पकड़ लिए। उन्होंने मुझे गोद में छिपा लिया पर उनका करुण मौन मुखर हो उठा। वे हिचक-हिचक कर रोने लगीं। कंपित और अस्फुट स्वरों में मैंने दादी से कहा—"जब तक मैं जिन्दा हूँ, मैं तुम्हें और परिवार को कष्ट न होने दूंगा।" दादी ने कुछ उत्तर न दिया, केवल मुझे एक दृष्टि भर देखा। क्या था उस दृष्टि में ? सन्देह, पीड़ा, शोक, अतीत, वर्तमान या भविष्य ?" मैंने रोते हुए फिर कहा—"बाबूजी के नाम को मैं डूबने न दूँगा।" इस पर उन्होंने मेरे सिर पर हाथ फेरकर चुप होने का संकेत किया।

इसके दो दिन बाद पिता जी की भस्म का फूल चुनना था। सारे नगर में भय और आतंक छाया हुआ था। फूल चुनने के लिए कहीं से भी कार की व्यवस्था न हुई। कुछ लोग सरकार को डरते थे, कुछ गुण्डों को, कुछ को अपना मोह था और कुछ को कार का। इस स्थिति में शहर के एक पुराने मशहूर बंगाली हेडमास्टर (जिन्होंने मुझे भी पढ़ाया था) ने कार देने का सन्देश भिजवाया, पर यह भी कहलाया कि किसी को पता न चले। मैं उसे स्वीकार न कर सका। विविध चिन्ताओं, वेदनाओं को हृदय मे छिपाये कुछ स्नेही आत्मीयजनों के साथ तीन घण्टे तक मैं श्मशान में फूल चुनता रहा। उसी समय निश्चित किया कि पिता जी की ही भाँति सिद्धांतों पर दृढ़ रहूँगा।"

आज अमर शहीद विद्यार्थी जी को गए हुए आधी शताब्दी बीत रही है। जिस परतन्त्र देश के लिये उन्होंने एक दिन कहा था—"देश की आत्मा अक्षुण्य अभेद्य और अमर है।" वह देश पराधीनता की काल रात्रि बिताकर स्वतन्त्रता के प्रभात नहीं मध्याह्न में आज खड़ा है। इस दोपहर में आदर्श और बलिदान "निरर्थक" शब्द मात्र बन रहे हैं। त्याग की वीणा के स्वर मन्द हो रहे हैं। भोग का कर्कश नाद दिग्-दिगन्त में गूंज रहा है, तब विद्यार्थी जी के जमाने के बचे हुए मुट्ठी भर लोग, उनके पद चिह्नों पर चलने वाले कुछ राही, उनकी दी गई रोशनी की रक्षा करने वाले सिपाही कुछ इस तरह महसूस करने लगे हैं—

"बेचैन है हवायें, हर ओर बेकली है,
कोई नहीं बताता किश्ती किधर चली है,
मँझधार है भँवर है, या पास है किनारा
या डूबने चला सौभाग्य का सितारा।"

ऐसे व्याकुल, शंका, सन्देह भरे वातावरण में, याद आती है उनकी रोशनी भरी जिन्दगी, और उनकी अतुलनीय कुर्बानी की। ऐसे ही नरपुंगवों के लिये श्री रामधारी सिंह दिनकर ने मानो एक दिन घोषित किया था—

"लेना अनल किरीट भाल पर, ओ आशिक होने वाले।
कालकूट पहले पी लेना, सुधा बीज बोने वाले॥

संपादक शिरोमणि

विद्यार्थी जी के व्यक्तित्व का विस्तार सर्वव्यापी तथा सर्वभूतेषु था। राष्ट्रीय जीवन की प्रत्येक दिशा उनके व्यक्तित्व की प्रभा से अनुरंजित थी। राजनीति, समाज सेवा, साहित्य—इन सभी क्षेत्रों में उनका यश अखिल भारतीय स्वरूप धारण कर चुका था। सेवा की दृष्टि से कुछ क्षेत्र ऐसे भी थे, जहाँ सर्वप्रथम उन्ही का ध्यान गया, जैसे तत्कालीन देशी राज्यों की प्रजा की ओर। हिन्दी पत्रों में सर्वप्रथम उन्होंने पत्रकार के रूप में 'प्रताप' की सेवाएँ देशी राज्यों की जनता को समर्पित की। सामाजिक सेवा के लिए केवल उत्तर प्रदेश ही नहीं, सम्पूर्ण देश, तथा देश से बाहर फिजी, मारीशस, ट्रिनीडाड और बर्मा तक के भारतीयों की उन्होंने हमेशा खोज खबर ली। उन्होंने अपनी ओर से दुःखी-पीड़ित भारतीयों के लिए सहायता की याचना की तथा उनके दुःख को सब तक प्रकट किया। देश के राष्ट्रीय संग्राम के सैनिकों, समर्थकों तथा कार्यकर्ताओं के दुखों की ओर तो वे निरन्तर ध्यान देते ही थे पर देश से बाहर रहकर राष्ट्रीय संग्राम में भाग लेने वाले देश प्रेमियों के दुःखों पर भी वे बराबर ध्यान रखते थे। विद्यार्थी की दृष्टि कितनी व्यापक, सजग संवेदनशील एवं सामयिक थी, इसकी झलक उनके निम्नांकित "हमारे वे मतवाले निर्वासित वीर" शीर्षक सम्पादकीय अंश मे मिलती है।

"जिन तपस्वियों ने अपने प्राण त्याग कर स्वतन्त्रता का यज्ञकुण्ड प्रज्ज्वलित किया, उनमें से अनेक वीर आज विदेशों में पड़े हुए हैं। जो हुतात्मा भारतीय जेलो की विकराल डाढो से बच गये, वे आज अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस, स्वीडन, रूस आदि देश-देशान्तरों में अपना जीवन बिता रहे हैं। अपनी जननी जन्मभूमि से सदाकाल के लिए निर्वासित किये जाकर वे पराये देशों में रह रहे हैं। उन पर क्या बीतती है, उनका शीतकाल और पावस काल कैसे कटता है। उनका निर्वाह कैसे होता है, वे भूखे रहते हैं या प्यासे, इस बात की मानों हमें चिन्ता ही नहीं। हमारी मुक्ति के लिए जिन्होंने सब सुखों को तिलांजलि दे दी, उनके प्रति हम कैसा निर्दयतापूर्वक व्यवहार कर रहे हैं, यह विचार भी हमारे मन में नहीं आता। हमारे ऐसा कृतघ्न क्या और कोई राज्य होगा?"

वे एक प्रसंग प्रस्तुत करते हुए बात इस प्रकार समाप्त करते हैं। अभी हमारे सामने परिव्राजक श्री सत्यदेव जी का पत्र रखा है। उसमें वे लिखते हैं, बर्लिन में अपने कई देशवासी हैं जिनको भारत आने का पासपोर्ट नहीं मिलता। जाड़ा सिर पर आ रहा है। वहाँ हमारे भाईयों के पास इतना धन नहीं कि वे कुशलतापूर्वक सर्दी पार कर सके। भारत के प्रसिद्ध सेवक कर्त्तारााम जी इस समय बर्लिन में हैं। मैं अपनी ओर से उनके पास ५० पौंड भेज रहा हूँ।

हमारे पास इतने शब्द नहीं कि हम स्वामी सत्यदेव जी की इस हृदय बेधक किन्तु सूक्ष्म चिट्ठी पर टिप्पणी कर सकें। हम लोग तो अन्धे हैं, दूसरों की आँखों से देखते हैं। अभी भारत के स्वातन्त्र्य युद्ध का इतिहास सम्पूर्ण नहीं हुआ। उसके पृष्ठ आज भी लिखे जा रहे हैं। हम लड़ाई-शूरों का गौरवपूर्ण अटल संतोष और उनका धैर्य इस मिमिराक्रत परिस्थिति में भी इस तरह चमक रहा है जैसे कुहू निशा में पथ प्रदर्शिनी अग्नि शिखा चमकती है।

(प्रताप २ नवम्बर सन् १९२५)

विद्यार्थी जी अपने निधन तक सभी क्षेत्रों में प्रमुख स्थान प्राप्त कर चुके थे। बलिदान के पूर्व वे युक्त प्रान्तीय (उत्तर प्रदेश) कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष थे। गरीबों, मजदूरों और मजलूमों के लिए वे कानपुर में "मसीहा" बन चुके थे। विद्यार्थी जी राष्ट्रीय संग्राम के अप्रतिम योद्धा तथा विभिन्न संस्थाओं के अनूठे संगठक के रूप में प्रतिष्ठित पुरुष थे। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के गोरखपुर अधिवेशन के वे अध्यक्ष थे। पत्रकारिता के क्षेत्र में, उनके लिखे गये सम्पादकीय तथा विचारों का महत्त्व इस अर्थ में ऐतिहासिक हो गया था कि तत्कालीन विख्यात अंग्रेजी समाचार पत्रों में उनकी टिप्पणियों का उद्धरण दिया जाने लगा था। लोकमत की दृष्टि से 'प्रताप' का अभिमत प्रामाणिक एवं अधिकारिक अभिव्यक्ति का प्रतीक बन चुका था। वस्तुतः इन सभी उपलब्धियों में मूल में उनके व्यक्तित्व का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष था सम्पादक का। उनके सभी कर्मों का मूल धर्म पत्रकारिता थी। यही उनकी शक्ति का मूल स्रोत, उनकी रचनात्मक प्रवृत्तियों का मूल प्रेरक, उनकी समस्त गतिशीलता का अक्षय कोष था। उनकी पत्रकारिता जन सेवा की वह लोक कल्याणकारी गंगा थी, जिसके लिये गोस्वामी जी ने घोषित किया था—

"कीरति मनिति भूति भल सोई
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।"

इसीलिये विद्यार्थी जी के कृतित्व पर विचार करते समय सर्वप्रथम उनके सम्पादक का ही प्रसंग उपस्थित होता है। उनके पत्र 'प्रताप' का जन्मकाल हिन्दी पत्रकारिता के विकास का प्रथम चरण था। हिन्दी पत्रकारिता प्रगति के जिन ऊबड़-खाबड़ कठिन सोपानों को पार करके बढ़ती गई, उन सबको विद्यार्थी जी को भी पार करना पड़ा। इस जय यात्रा में वे एक-सी निष्ठा, निःस्पृहता, लगन तथा तेजस्विता

के साथ जीवन की अन्तिम साँस तक सम्मिलित रहे। उन्होंने कभी इस मार्ग को छोड़कर रुकने या लौकिक सुखों की ओर प्रवृत्त होने का स्वप्न भी नहीं देखा। इसका स्पष्ट कारण था, उनका अपराजेय व्यक्तित्व। 'प्रताप' की गंगा के दो निर्धारित कूल थे, सत्य और न्याय। उसके प्रवाह में अपरिमित जल था, देश प्रेम का, राष्ट्र सेवा का। जल में गतिशीलता थी, अन्याय से निरन्तर टक्कर लेने की। गतिशीलता में स्वच्छता थी नैतिक मूल्यों के प्रति समर्पित भावना की। स्वच्छता में सौन्दर्य था वीरोचित पौरुष के जय निनाद का तथा सौन्दर्य में आकर्षण था बलिदान और तपस्या की लौ-लालिमा का।

हमारे इस कथन की प्रामाणिकता उन्हीं के विचार दर्पण में देखी जानी चाहिये। उनका 'प्रताप' विविध प्रसंगों में ऐसा दर्पण प्रस्तुत करता है। ऐसा ही एक दर्पण उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है।"'हमने अपनी छोटी नाव को तूफानी लहरों की टक्करों से पाश-पाश हो जाने का स्वप्न अनेकों बार देखा है। वह बड़ी ही साधारण भूमि थी, जिस पर 'प्रताप' का बीजारोपण किया गया था। कुछ मित्रों ने, जिनके पास धन नहीं था, परन्तु जिनके हृदय में उत्साह की यथेष्ट मात्रा थी, अनेक संकटों से संग्राम पर संग्राम करते हुए १९१३ की देवोत्थान एकादशी को 'प्रताप' का जन्म दिया। आरम्भ बिलकुल मामूली था। बाहर वालों की उँगलियाँ उठती थीं। समय और परिश्रम को देखते हुए, उनका यह कहना बेजा भी नहीं था कि यह जोश एक छोटा-सा उबाल है। इस समय आया है थोड़े दिनों बाद ठंडा पड़ जायेगा, परन्तु काम करने वाले धुन के पक्के थे। अपने हँसे जाने पर उन्होंने हँस दिया। अपने हतोत्साह किये जाने पर हृदय में निराशा नहीं आने दी। उपेक्षा और कहीं-कहीं तिरस्कार और निन्दा की लम्बी जिह्वा ने उन पर चोट की परन्तु वे अटल रहे। छोटे-से-छोटे काम उन्होंने अपने हाथों से किये। दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा।"'उदासीनता, कठिनाई, विपत्ति, परेशानी, क्या नहीं थी जो 'प्रताप' के इस छोटे से जीवन मे उसके संचालकों को नहीं झेलनी पड़ी। उन सबकी वर्षा में काम हुआ, परन्तु उन अवसर पर भी चाहे चिन्ता की छाप चेहरों पर लगी हो और हृदय की मसोस से बताबी बढ़ी हुई हो, परन्तु स्थान छोड़ने की इच्छा तक मन में नहीं लाई गई।"'अन्त मे परीक्षा मार्ग के काँटे हट गये और मुसीबतों को झेलने वालों को अच्छे दिन दिखाई पड़े।"''प्रताप' के इतिहास का यही सार है।"

पत्रकारिता उनका स्वधर्म था। लोकधर्म के परिपालन में भारतीय इतिहास मे महाराणा प्रताप से बढ़कर गत ५०० वर्षों में दूसरा नाम नहीं है। ऐसे प्रताप के आदर्श को अंगीकार करने के लिये उनमें कितनी दृढ़ता तथा तपस्यामूलक वृत्ति थी, यह उन्हीं की आप बीती के रूप में प्रस्तुत है—

"परन्तु वे (संचालक) अब भी उसी प्रकार गरीब हैं जिस प्रकार वे उस दिन थे, जिस दिन 'प्रताप' का जन्म हुआ था। धन की मार उनके लिये एक बड़ी भारी मार है।"'जब हमारे ऊपर संकट पड़े तब हमने उनको दृढ़ता के साथ झेलने का प्रयत्न

अवश्य किया परन्तु पहले से हमने कभी आह्वान नहीं किया।...हमने लड़ाई छेड़ी किन्तु उन स्थलों पर जहाँ हमने अन्याय के तूफान का जोर देखा। न्याय और सत्य हमारे ध्रुव नक्षत्र रहे है।"[1]

विद्यार्थी जी के पत्रकार स्वरूप को भलीभाँति समझने के लिये 'प्रताप' की पृष्ठभूमि, क्रियाकलाप तथा उसके संघर्ष की चर्चा आवश्यक है। वस्तुतः 'प्रताप' और गणेश जी एक दूसरे के पूरक थे। एक शरीर था, दूसरी आत्मा, एक तपस्या का रूप, दूसरा त्याग का शरीर, एक समर्पित भावना का जयनाद, दूसरा बलिदानी प्रवृत्तियो का शंखनाद, संक्षेप में दोनों सरिता और सिन्धु की भाँति, एक दूसरे में विलीन। विद्यार्थी जी की आरम्भिक पत्रकारिता की चर्चा पिछले पृष्ठों में की जा चुकी है। 'प्रताप' उसी आरंभिक पत्रकारिता का चरम उत्कर्ष था। इस उत्कर्ष शिखर के तल-अतल में आँसू और वेदना की, अभाव और विडम्बना की, करुणा तथा संवेदना की, विप्लव तथा चेतना की कितनी ही अकथ कहानियाँ छिपी पड़ी हैं।

वस्तुतः 'प्रताप' का जन्म तो बड़ी ही साधारण भूमि में हुआ था पर उसके पीछे आदर्श और महत् उद्देश्य की विराट कल्पना थी। इसी को रूपायित करने के लिये गणेश जी ने कानपुर में पं० शिवनारायण मिश्र के सहयोग से कार्तिक सुदी ११ संवत् १९७० तदनुसार ता० ९ नवम्बर १९१३ को 'प्रताप' का शुभारम्भ किया था। आरम्भ में यह पं० यशोदा नन्दन के कारोनेशन प्रेस में छपता था किन्तु कुछ महीनो बाद इसके लिये प्रताप प्रेस की व्यवस्था विवश होकर करनी पड़ी। इस विवशता के पीछे 'प्रताप' की वह राष्ट्रीय नीति थी, जिसके कारण अल्प समय में ही तत्कालीन ब्रिटिश सरकार का इसे कई बार कोपभाजन बनना पड़ा। 'प्रताप' के उद्देश्य तथा नीति का स्वच्छ दर्पण उसका आदर्श वाक्य (मोटो) था जो उसके प्रथम पृष्ठ पर आरम्भ से ही छपता रहा—

"जिसको न निज गौरव तथा
निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं, नरपशु निरा है,
और मृतक समान है।"

इस आदर्श वाक्य की रचना विद्यार्थी जी के अनुरोध पर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने की थी। बाद के वर्षों में, यह आदर्श वाक्य, 'प्रताप' तथा उसके हजारों पाठकों के साथ, देश के लाखों कंठों का प्रेरक गीत बन गया। प्रताप कार्यालय के जिस कमरे मे बैठकर गणेश जी सम्पादकीय लिखा करते थे, उस कमरे की दीवार पर यह आदर्श वाक्य शीशा में जड़ा हुआ 'प्रताप' के बाद होने तक लगा रहा।

'प्रताप' की सम्पूर्ण कल्पना उसके नाम तथा उसके प्रथम सम्पादकीय के निम्नांकित अंश को ध्यान में रखकर सहज की जा सकती है। "हम न्याय में सजा और

---

१. प्रताप, ८ जुलाई १९१९।

प्रजा दोनों का साथ देंगे परन्तु अन्याय में दो में से किसी का भी नहीं। हमारी यह हार्दिक अभिलाषा है कि देश की विविध जातियों, सम्प्रदायों और वर्णों में परस्पर मेल-मिलाप बढ़े। जो लोग जबरदस्त हैं उन्हें जबरदस्ती से रोका जाय और जो कमजोर है, उनकी कमजोरी दूर की जाय। जो बलवान जाति अपनी ताकत के भरोसे, दूसरी कमजोर जाति को दबाती या कुचलती है, वह अत्याचार करती है। उसके जुल्म से देश मे अनाचार, अन्याय, कायरता और फूट की वृद्धि होती है। साथ ही जो जाति हर मौके और हर काम में संतोषी बनकर मिटना और पीछे रहना अपना प्रारब्ध समझती है वह भी किसी तरह से कम अपराधी और कम दोषी नहीं हो सकती। लेकिन जिस दिन हमारी आत्मा इतनी निर्बल हो जाय कि हम अपने प्यारे आदर्श से गिर जायें, जानबूझकर असत्य के पक्षपाती बनने की बेशर्मी करें और उदारता, स्वतन्त्रता और निष्पक्षता के छोड़ देने की भीरुता करें, वह दिन हमारे जीवन का सबसे अभागा दिन होगा और हम चाहते हैं कि हमारी उस नैतिक मूल्य के साथ ही साथ हमारे जीवन का भी अन्त हो जाय।"

'प्रताप' पत्र और इसके सम्पादक दोनों को निरन्तर विकट संघर्ष का सामना करना पड़ा। इस संघर्ष का एक ही मोर्चा, विदेशी शासन मात्र नहीं था, कई मोर्चे एक साथ खुले हुये थे। देश की सामन्तवादी पूँजीवादी शक्तियों, सम्प्रदायवादी सामाजिक एकाधिकार की ताकतें, सरकारी अफसरशाही, साम्राज्यवाद के पोषक राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोधी खेमें, बड़े-बड़े देशी राज्यों के अधिपति, इन सबका एक साथ मुकाबला करना 'प्रताप' का दैनिक कार्यक्रम बन गया था। आदर्श और सत्य से, निर्धारित लक्ष्य एवं नैतिक मार्ग से हटाने, विचलित करने तथा भयभीत करने के लिये, प्रताप सम्पादक के लिये बड़े-बड़े प्रलोभन, दबाव, भय, धमकियाँ, चुनौतियाँ, अखबार जप्ती, अर्थदण्ड, कारागार, सबका प्रयोग किया गया, किन्तु 'प्रताप' और प्रताप सम्पादक अटल, अजेय, अपरिवर्तित तथा अभय बने रहे। जब-जब चुनौतियों का अवसर आया, तब-तब विद्यार्थी जी ने हँस-हँस कर उन्हें स्वीकार किया। जैसा पूर्व में कहा जा चुका है उन्होंने जिला राजनीतिक कान्फ्रेन्स फतेहपुर के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए घोषित किया था—

"मैं लड़ाई का पक्षपाती हूँ। मैं समस्त सत्ताओं का विरोधी हूँ, चाहे वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद की हो या मौजूदा सरकारी नौकरशाही की, जमींदारों की हो या राजाओं की, धनवानों की हो या ऊँची जातियों की।"

इस घोषणा से स्पष्ट है कि 'प्रताप' का आरम्भ उन्होंने किस महत् प्रयोजन के लिये किया था। उनके लिये इस प्रयोजन में, संघर्ष के पक्षधर में, देश की स्वतन्त्रता तथा देशवासियों को सेवा सर्वोपरि थी। इस दृष्टिकोण को उन्होंने कई अवसरों पर 'प्रताप' के माध्यम से स्पष्ट किया था। इस देश सेवा में सत्य उनका सबसे बड़ा संबल और आत्मविश्वास उनका सर्वाधिक विश्वस्त साथी था। 'प्रताप' के प्रथम अंक में ही उन्होंने इसको घोषित कर दिया था। "आज अपने हृदय में नई-नई आशाओं की धारणा करके और अपने उद्देश्यों पर पूर्ण विश्वास रखकर 'प्रताप' कर्मक्षेत्र में आता है। समस्त

मानव जाति का कल्याण हमारा परमोद्देश्य है और इस उद्देश्य की प्राप्ति का एक बहुत बड़ा साधन हम भारतवर्ष की उन्नति को समझते हैं।...इसी को हम अपनी लेखनी का लक्ष्य बनावेंगे।...किसी भी प्रशंसा या अप्रशंसा, किसी की प्रसन्नता या अप्रसन्नता, किसी की धमकी या घुड़की हमें अपने मार्ग से विचलित न कर सकेगी। सत्य और न्याय हमारे पथ-प्रदर्शक होंगे। सत्य को दबाना हम महापाप समझेंगे और उसके प्रचार और प्रकाश को महापुण्य।...रास्ता कठिन है। पथिक निर्बल है परन्तु हृदय में विश्वास है केवल विश्वास।''

'प्रताप' के निकलने के आठ-दस वर्षों के भीतर ही उसे सर्वाधिक तूफान शासक पक्ष से झेलना पड़ा। एक विदेशी सरकार देश-प्रेम की अविरल वेगवती धारा को 'प्रताप' के माध्यम से प्रवाहित होने को कैसे सहन करती? किन्तु विद्यार्थी जी देश की आवश्यकता पूर्ति के लिये ही 'प्रताप' को जीवित रख सकते थे। अनेक संकटों के बीच उन्होंने बार-बार इसे स्पष्ट किया था—

''देश की आवश्यकता के नाम पर हम 'प्रताप' को कर्मक्षेत्र में लाये थे। इस बीच में जैसी बनी और जिस तरह बनी, 'प्रताप' ने देश की सेवा की और उसी आवश्यकता के आधार पर वह ठोकरों पर ठोकरें खाता हुआ इस समय तक जीवित रहा।''[1]

गणेश जी देश-प्रेम के मतवाले ही नहीं मातृभूमि के एकनिष्ठ उपासक थे। रघुवंश की मर्यादा के समान ही मानो उनकी टेक थी—''प्रान जाई पर देश न जाई।'' मातृभूमि का विरोधी चाहे ब्रिटिश सरकार हो या भारत सरकार, प्रान्त के गवर्नर हो, या कानपुर के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट, विद्यार्थी जी किसी के व्यवहार को सहन नहीं कर सकते थे। राष्ट्रीयता के कोमल पौधे पर आघात करने वाला चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, चाहे 'पायोनियर' हो चाहे अन्य कोई ऐंग्लो इण्डियन पत्र, वे उसे क्षमा नहीं कर सकते थे। उस जमाने में कुछ अंग्रेजी साम्राज्य परस्त पत्र जैसे 'टाइम्स', 'लीडर' विशेष रूप से लखनऊ का 'पायोनियर' प्रायः राष्ट्रीय आन्दोलनों पर कीचड़ उछालते। 'प्रताप' इन अखबारों को खरी-खरी सुनाकर इनका मुँह बन्द करने में आगे रहता। देशभक्ति का विरोध विद्यार्थी जी के लिये अक्षम्य था। तभी तो उन्होंने एक बार लिखा था—

''पण्डित हो या मौलवी, धर्म हो या कर्म, मातृभूमि के हित के विरुद्ध किसी की भी व्यवस्था हमें मान्य नहीं। मातृभूमि का अपराधी चाहे हिन्दू हो या मुसलमान कोई भी हमारे तिरस्कार और उपेक्षा से आराम नहीं पा सकता।''[2]

शताब्दियों के बाद जागनेवाली हिन्दुस्तान की आत्मा को जब-जब ब्रिटिश सरकार ने अपने दमन चक्रों से कुचल देना चाहा, तब-तब विद्यार्थी जी की लेखनी ने क्रान्ति का आह्वान किया। यह आह्वान शक्ति, साहस तथा बलिदानी भावनाओं के विश्वास का पर्याय था। ऐसे ही एक अवसर पर उन्होंने ललकारा था—''देश की

---

१. प्रताप, २२ नवम्बर १९२०

२ प्रताप १२ नवम्बर १९१७

आत्मा अक्षुण्ण, अभेद्य और अजेय है। दिन बीतते हैं, वर्ष टल जाते हैं, परन्तु देश की आत्मा अविचल, निर्विकार और अमर है। प्रबल आक्रमणों के प्रहार, अत्याचारी और विजेताओं के क्रूरतम अत्याचार, इतिहास प्रसिद्ध कठोर से कठोर शासकों की कठोरता देश की आत्मा नष्ट करने में सदैव निष्फल रही है, परन्तु देश की आत्मा की हुँकार मात्र से बड़े-बड़े साम्राज्यों की केवल कहानी शेष रह जाती है। संसार के इतिहास का अधिकतर भाग उन विफलताओं का संग्रह मात्र है जो अजेय शासकों को समय-समय पर भिन्न देशों की आत्मा को शान्त करने में मिली। देश की आत्मा की स्वातन्त्र्य पिपासा स्वतन्त्रता से ही बुझ सकती है और किसी से नहीं फिर चाहे वह अमृत ही क्यो न हो।''[1]

राष्ट्रसेवा और देशप्रेम का अर्थ विद्यार्थी जी के लिये मात्र राजनीतिक स्वाधीनता ही नहीं था, किन्तु राष्ट्र मुक्ति के लिये किये जाने वाला प्रत्येक कार्य, देश को प्रगति तथा समृद्धि की ओर ले जाने वाला प्रत्येक आन्दोलन, सामाजिक सुधार के द्वारा नवीन समाज रचना का प्रत्येक प्रयास, आम जनता में अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों के प्रति जागरूक करने वाला प्रत्येक सन्देश—ये सब विद्यार्थी जी की देशभक्ति में समाहित थे। केवल भौगोलिक देश वन्दना नही प्रत्येक कोण, प्रत्येक दिशा, प्रत्येक भाव से भारत के प्रति समर्पित सेवा की अलख जगाना गणेश जी का व्रत था। इस व्रतपूर्ति के लिये उन्होंने प्राणोत्सर्ग की कामना अपने लेखों में कई बार की थी और अन्ततः ईश्वर ने यही किया। उनकी बलिदानी आकांक्षा जोश मलीहाबादी की निम्नांकित पंक्तियों में मानो सजीव हो उठी है—

इस जमी को तेरी नापाक न होने देंगे।
तेरे दामन को कभी चाक न होने देंगे।
तुझ को जीते हैं तो, गमनाक न होने देंगे।
ऐसी अक्सीर को यूं खाक न होने देंगे।
जी से ठानी है यही, जी से गुजर जायेंगे।
कम से कम वादा ये करते हैं कि मर जायेंगे।

विद्यार्थी जी एक ऐसे सम्पादक थे जिनकी पत्रकारिता तपःपूत उद्देश्यों को लेकर जीवित रहना चाहती थी। राष्ट्र चेतना और जन-जागरण जिसका मूलमन्त्र अवश्य था, किन्तु इसी एक पक्ष से 'प्रताप' सम्पादक का मूल्यांकन एकांगी होगा। वस्तुतः सम्पादक गणेश जी की उपलब्धि पर विचार करते समय मतिराम की वह पंक्तियाँ बार-बार याद आती हैं—

ज्यों ज्यों निहारिये इन नैननितें,
त्यों त्यों खरी निकरे सी निकाई।

'प्रताप' अखबार और उसके सम्पादक की उपलब्धियों के विविध क्षेत्र हैं। इसमे

---

1. प्रताप, 1 जून 1919

राष्ट्रीयता की अभिवृद्धि तथा भारतीय स्वाधीनता की प्राप्ति मुख्य थी। भारतीय राजनीति में राष्ट्रीयता का प्रबल प्रवाह १९२० से गांधी जी के नेतृत्व से आरम्भ होता है किन्तु इससे पूर्व ही विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' के माध्यम से राष्ट्र में जागृति तथा लोकमत जागरण का कार्य आरम्भ कर दिया था। भारतीय इतिहास में सन् १९१३ से १९२० तक का समय राष्ट्रीयता का प्रभातकाल था। साधारण जनता की बात क्या, बड़े-बड़े राजनेता भी खुलकर ब्रिटिश शासन की आलोचना करने से हिचकते थे। उस जमाने में भी विद्यार्थी जी के सम्पादकीय लेख अतिशय उग्र होते थे। उन्हें पढ़ कर आज भी हृदय एक आवेग से भर जाता है। जब देश में राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रवाह तीव्रगामी हुआ तब तो उनकी लेखनी रण भेरी का निनाद बन गई। उस समय देश के बड़े नेताओं के भाषणों, वक्तव्यों ने युग-युग से सोई जनता में चेतना के जितने भाव भरे, जन-जीवन में जितनी प्रेरणा एवं शक्ति का संचार किया, उसमें विद्यार्थी जी जैसे सम्पादकों का महत् योगदान था। स्वाधीन भावना और राष्ट्रीयता के उठते प्रवाह को अवरुद्ध करने के लिये ब्रिटिश दमनचक्र का उग्र विरोध उन्होंने सन् १९१३ में निम्नांकित उद्‌गारों के साथ किया था—

"जिन्होंने बड़ी ही बेरहमी से हमारे भाईयों की पीठों पर चाबुक लगाये थे, वही हमारे घावों पर नमक छिड़कते हुये हमारे भाईयों पर किये गये अत्याचारों की तहकीकात के लिये पवित्र न्यायासन पर बैठाये गये...शायद ही किसी और तरह दुःखी हृदय इससे अधिक कुढ़ाये जा सकते।...देशवासी तैयार रहें, उन्हें अपने भाईयों का, अपने ही नाम और काम के लिये अभी बहुत कुछ साथ देना है।"[1]

राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेने वालों को प्रताड़ित तथा आतंकित करने के लिए सरकार का पुलिस विभाग नये-नये हथकंडे अपनाता, तलाशी, गिरफ्तारी, मानापमान, उस समय की दैनिक दिनचर्या बन गई थी। "रक्षा कहाँ" शीर्षक संपादकीय में उन्होंने १९ अप्रैल १९१४ को बड़े बुलन्द स्वरों में प्रतिरोध किया था। "हमें बड़े खेद, संताप और ग्लानि से देश को पुलिस की धींगाधींगी, उसकी गफलत और जिम्मेदारी से लापरवाही की शिकायत करनी पड़ती है जिसे आजकल वह राजनैतिक तलाशियों और धर-पकड़ में पग-पग पर प्रकट कर रही है। यदि प्रयाग के श्री योगेन्द्र नाथ चौधरी ऐसे प्रतिष्ठित आदमी के घर की तलाशी सहज ही में ली जा सकती है, यदि मिर्जापुर के श्रीयुत बदरीनारायण उपाध्याय भी बात की बात में इस अपमान के छाये के नीचे आ सकते हैं, यदि दुर्भिक्ष के लिये धन एकत्र करने- फिरने वाले माननीय श्री वेंकटेश नारायण तिवारी और 'अभ्युदय' संपादक श्रीयुत कृष्णकान्त मालवीय का सामान जरा सी इच्छा पर खोला-देखा जा सकता है तो हम पूछते हैं कि देश में कौन सा आदमी है जो आगे बढ़ कर यह कह सकता है कि मैं इस धींगाधींगी से सुरक्षित हूँ ?...उस व्यक्ति से लेकर जो सिर सीधा करके स्वतन्त्र मनुष्य की भाँति रहना पसन्द

---

१. प्रताप, २८ दिसम्बर १९१३

करता है और अपने स्वत्वों के संग्राम में और अपने कर्तव्य के मैदान में पुलिस से क्या संसार की बड़ी से बड़ी शक्ति से नहीं डरता, क्या इस तूफाने बदतमीजी से अपने को सुरक्षित समझ सकता है ? यदि सरकार समझती है देश में बहुत अशान्ति है तो हम उसे सलाह देंगे कि शीघ्र ही देश में जंगी आईन की मुनादी फिरवा दी जाय। ढोंगपूर्ण स्वत्वों के आश्रय में रहने से जंगी आईन की सख्ती के नीचे जीवन बिताना उनके लिये कहीं अच्छा है जिनमें कुछ भी आत्म सम्मान का भाव है।''

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय संसार में लोकतंत्र और स्वाधीनता की जो गूँज यूरोप में फैली हुई थी, उसकी प्रतिध्वनि भारत में न हो, इसके लिये विदेशी शासन बराबर प्रयास करता रहता था। स्वाधीनता की वाणी, स्वाधीनता की लेखनी, लोकतन्त्र का मन्द से मन्द स्वर भी ब्रिटिश शासन को सहन नहीं होता था। विद्यार्थी जी इस सम्बन्ध में लोकमत जाग्रत करने के लिये सतत् प्रयत्नशील रहते। निर्भीकता, स्पष्टवादिता तथा देशहित का दृढ़ स्वर उनके विचारों में मुखर होता था। ''स्वाधीनता और प्रजा-सत्ता'' शीर्षक से उनके विचारों के कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत हैं —

''...संसार का यह रुख रह रहकर हमारे हृदय पर चोटें लगाता है। स्वाधीनता की इस गूंज को हम तक न पहुँचने के लिये आकाश में दीवारें नहीं खड़ी की जा सकतीं। यदि ऐसा नहीं हो सकता तो हम पूछते हैं कि इसके अर्थ ही क्या हो सकते हैं कि एक ओर तो इंगलैण्ड की पार्लियामेन्ट रूस की आजादी पर फूली न समाये और दूसरी ओर वह ३२ करोड़ मनुष्यों को, इस देश को अनेक बंधनों में जकड़े हुये रक्खे ? क्या स्वाधीनता और प्रजासत्ता यूरोप और अमेरिका में ही अच्छी है ? क्या यूरोप और अमेरिका के स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध संग्राम करना अच्छा है और एशिया, अफ्रीका के लोगों का इस काम के लिये उँगली हिलाना भी पाप है ?''

राष्ट्रीय आन्दोलनों के लिये पृष्ठभूमि निर्मित करने का बहुत बड़ा कार्य हिन्दी पत्रकारिता ने किया है। यह योगदान इतना विशिष्ट है कि राष्ट्रीय पत्रों की उस समय एक कोटि बन गई थी। इन पत्रों के लिए देश प्रेमियों के साथ आम जनता की सहानुभूति श्रद्धा में परिणत हो गई थी। 'प्रताप' का इतिहास बताता है कि जब-जब उसके ऊपर सरकार की ओर से संकट आता, जाने कितने पाठक अज्ञात बनकर सहायता की झोली खोल देते। अपना नाम देकर वे सरकार के कोपभाजन नहीं बनना चाहते थे, पर वे देश प्रेम के स्वधर्म पालन से भी वंचित नहीं होना चाहते थे। यह प्रेम और श्रद्धा की अदृश्य शक्ति गणेश जी को सदैव सुलभ रही। उन्होंने भी राष्ट्रीय आंदोलनों के सन्दर्भ में देशवासियों को सदैव अपना स्पष्ट अभिमत प्रदान किया। चाहे लोकमान्य तिलक हों, चाहे देशबन्धु चितरंजन, महात्मा गाँधी हों अथवा महामना मालवीय, सम्पादक विद्यार्थी जी ने कभी भी अपने ऊपर राजनीतिक परिवेश को हावी नहीं होने दिया। उनकी अंतरात्मा ने जो भी विचार देश तथा लोकहित में उचित समझा, उसे निर्भीकता के साथ व्यक्त किया। किसी संकोच, प्रलोभन, भय, बहुमत के दबाव अथवा सामाजिक अप्रियता के सामने वे सम्पादक के रूप में कभी नहीं झुके। यहाँ एक-दो

प्रसंगों का उल्लेख आवश्यक है। "कस्मै देवाय" शीर्षक एक संपादकीय में उन्होंने आम जनता को आगाह किया था—"हम जनता से बड़े जोरदार शब्दों में यह निवेदन करना चाहते हैं कि आप न व्यक्ति की पूजा कीजिये और न संस्था की। आप अपने धर्म की, सत्य की, अपने सद् विवेक और बुद्धि की पूजा कीजिये। महामना मालवीय जी और पूज्य लाला लाजपतराय जो कुछ कहें उस पर इसलिये कदापि विश्वास न करना चाहिये कि वह आप्त वाक्य है। साथ ही कांग्रेस का जो कार्यक्रम है, वह भी इसलिये नहीं स्वीकार किया जाना चाहिये कि उसे एक महती संस्था ने निश्चित किया है।"

(प्रताप, १४ नवम्बर १६२४)

इस प्रकार वैचारिक स्वतन्त्रता, निष्पक्षता तथा तटस्थता की दृष्टि से उन्होंने सम्पादक धर्म का निरन्तर पालन किया। उनकी दृष्टि में व्यक्ति एवं संस्था का जितना महत्त्व था, उससे अधिक देश एवं आम जनता का था। विभिन्न कठिन अवसरों पर जनता का सही मार्गदर्शन, उसकी समस्याओं का सही-सही निदान, तथा विषम परि-स्थितियों में लोक जीवन को सशक्त बनाना 'प्रताप' सम्पादक का अनिवार्य कर्तव्य था। सम्पादक के रूप में उनकी दृष्टि कभी व्यक्तिमूलक नहीं रही। उनकी रचनाओं मे महात्मा गांधी के लिये निरन्तर श्रद्धा की वीणा झंकृत होती रही। जब महात्मा गांधी का कानपुर में प्रथम आगमन हुआ तब प्रताप कार्यालय ही उनका निवास स्थल रहा। विद्यार्थी जी को ही बापू के स्वागत करने का सौभाग्य मिला किन्तु असहयोग आन्दोलन, शिक्षा संस्थाओं के बहिष्कार, आमरण अनशन आदि कई अवसरों पर विद्यार्थी जी ने विनम्रता पूर्वक कुछ मुद्दों पर उनसे अपनी असहमति प्रकट की। व्यक्ति चाहे जितना बड़ा हो उसके विचारों से मतभेद रखकर लोकाचार के लिये समर्थन करना 'प्रताप' सम्पादक ने सीखा ही नहीं था। वैचारिक मतभेद रखकर भी ऐसे व्यक्ति के प्रति सम्मान और श्रद्धा भावना बनाये रखने का अनूठा गुण उनमें था। इस सम्बन्ध में देशबन्धु चितरंजनदास का उदाहरण प्रासंगिक होगा। सन् १६२५ में कांग्रेस के भीतर रहकर पं मोतीलाल नेहरू तथा देशबन्धु चितरंजनदास ने स्वराज्य दल बनाया था। सरकार में रहकर उससे असहयोग इस दल की कार्य प्रणाली थी। इसके नेता देशबन्धु ने पूर्ण स्वाधीनता की अपेक्षा "औपनिवेशिक स्वराज्य" का विचार प्रस्तुत किया था। पूर्ण स्वाधीनता के लिये सर्वस्व त्याग करने वाले देश प्रेमियों, अनेक कांग्रेस कार्यकर्ताओं तथा आम जनता के मन में इसकी कैसी तीव्र प्रतिक्रिया हो सकती है, इसका सही अन्दाज 'प्रताप' सम्पादक को था। लोक जीवन की नाड़ी का सही ज्ञान रखकर उसे प्रकट करना प्रत्येक सम्पादक का स्वधर्म होना चाहिये। विद्यार्थी जी ने इस सम्बन्ध में "झुका हुआ झंडा" शीर्षक से जो अग्रलेख लिखा था उसका कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत है—"दास बाबू (देशबन्धु चितरंजनदास) ने स्वतन्त्रता का फहराया हुआ झंडा झुका दिया। आज तक वह एक पवित्र भावना के रूप में, एक आदमी के रूप में, एक वांछा के रूप में, हमारे संकुचित आकाश में फहरा रहा था। न जाने किस अतीत पुण्य बल से, न जाने कितने हृदय मथन के बाद, न जाने कितनी आशाओं और आकांक्षाओं को निचोड़कर हमने उसकी

सृष्टि की थी।

सहसा आज हमारा वह झंडा गिरा दिया गया—देशबन्धु ने फरीदपुर कान्फ्रेंस मे जो कुछ कहा, वह स्वराज्य की नीति की प्रतिच्छाया है। पराधीन देश की राजनीति को आप वेश्या बनाकर नहीं रख सकते। उसे तो संन्यासिनी होकर ही रहना पड़ता है। स्वराज्यदल ने उसे वीरांगना के वस्त्र पहनाये। जिनके आँखें थीं, वे देख रहे थे कि यह सब ढकोसला है। आन्तरिक असहयोग का ढोल पिटा परन्तु उसकी प्रतिध्वनि से निकला औपनिवेशिक स्वायत्त शासन। आप स्वाधीन हों या नहीं परन्तु कम से कम स्वाधीनता के भाव यह उपहास न कीजिये। देशबन्धु शासकों में हृदय परिवर्तन देख रहे हैं। वह हमें नहीं दिखाई देता। देशबन्धु की दूरबीनो की तारीफ है।" इस अग्रलेख का आरम्भ भावात्मक, मध्य विचारोत्तेजक, तथा अन्त तीव्र व्यंग्यात्मक है। व्यंग्य के साथ सम्पादकीय का निष्कर्ष चिन्तन का बीजारोपण करता है। इस लेख का अंतिम निष्कर्ष इस प्रकार है—

"फरीदपुर में दिया गया देशबन्धु का वह भाषण कई बातों के लिये चिरस्मरणीय रहेगा। वह देश के नाम पर है किन्तु देश के लिये नही है। वह देशवासियों के सामने दिया गया, परन्तु उसका देने वाला सात समुद्र पार लार्ड वर्कनहेड और लार्ड रीडिंग को देख रहा था। उसका देने वाला योग्य प्रतिभाशाली है, देश का जबर्दस्त नेता है परन्तु मालूम पड़ता है, वह संग्राम से थक गया।"

वैचारिक मतभेद, किसी समस्या के सम्बन्ध में दृष्टिभेद, सैद्धान्तिक विभिन्नता, चिन्तन की स्पष्टता सम्पादक का गुण है, किन्तु व्यक्तिपरक दुर्भावना उसका सबसे बड़ा अवगुण। विद्यार्थी जी इससे कितने मुक्त थे, यह उनके निम्नांकित सम्पादकीय की पंक्ति-पंक्ति में परिलक्षित है। यह सम्पादकीय देशबन्धु के असामयिक निधन पर जून १९२५ में लिखा गया था—

"यह वज्रपात है। वज्रपात देश के हृदयस्थल पर, हमारा बड़ा, हमारा सहारा, हमारा राह बतानेवाला हमसे छूट गया। इस पत्र के स्तम्भों में, कभी-कभी देश बन्धु-दास के कामों की तीव्र आलोचना भी हुई है। उनके कामों और उनकी प्रणालियों का विरोध भी किया गया है किन्तु यह मतभेद कभी पूरी श्रद्धा और प्रेम से खाली न था। श्रद्धा की जो अंजलियां इस समय स्मृति वेदी पर चढ़ाई जा रही हैं, उनकी बहुलता और विभिन्नता पर ये रक्त रंजित अक्षर अंकित से हैं। जो क्षति हुई, वह बहुत बड़ी हुई और बहुत असमय हुई। हमारी विह्वलता उस महान् पुरुष के लिये तनिक भी नहीं है। हमें अपनी ही चिन्ता है। त्याग और तपस्या, वीरता और कर्मण्यता की इस विशाल राशि को खोकर हम मानो यह अनुभव करते हैं कि हमने सब कुछ खो दिया।"

सम्पादक के रूप में विद्यार्थी जी की विशिष्ट उपलब्धियों का आकलन करने के पूर्व, सम्पादक सम्बन्धी कुछ सामान्य चर्चा आवश्यक है। 'प्रताप' सम्पादक मात्र सम्पादक ही नहीं था। उसके कार्यक्षेत्र की परिधि बहुत व्यापक थी। इस परिधि की धुरी थी उनकी राष्ट्रीय चेतना। यह राष्ट्रीयता संकीर्ण राजनीतिक विचारों की नहीं, व्यापक

देश प्रेम और राष्ट्रभक्ति का पर्याय थी। इसी वृत्ति के कारण, इस संपादक का कार्यक्षेत्र भी बहुत व्यापक था। तत्कालीन ब्रिटिश शासन की शोषण वृत्ति को सर्वाधिक शिकार आम जनता थी। किसान, मजदूर, सामान्य शिक्षक, छोटे-मोटे दुकानदार, इन सबके लिये ब्रिटिश शासन एक विदेशी शासन ही नहीं आतंक का शासन था। इसीलिये इस वर्ग पर अत्याचार की सूचना पाते ही 'प्रताप' सम्पादक तड़प उठता। उनकी सहानुभूति, सहायता तथा संवेदना के लिये उसके पास लेखनी के अतिरिक्त और था ही क्या ? यही कारण है कि तत्कालीन 'प्रताप' के अंकों में, इन वर्गों पर होने वाले अत्याचार की सूचनाओं कहानियों, तथा पत्रों की भरमार है। विद्यार्थी जी मात्र समाचार ही छाप कर संतोष नहीं करते थे, आवश्यकतानुसार उस पर टिप्पणी भी लिखते। इसका उद्देश्य शासन के प्रति जन-आक्रोश उत्पन्न करने के साथ जन जागरण भी रहता।

विद्यार्थी जी का अभिमत था कि जन-जीवन की समस्याओं को छापकर ही सम्पादक को संतोष नहीं करना चाहिये। ऐसी समस्याओं के व्यावहारिक पक्ष पर भी उसे ध्यान देना चाहिये। हिन्दी पत्रों में 'प्रताप' पहला पत्र था जिसने इस दिशा में एक अभिनव प्रयोग किया था। उन्होंने बारी-बारी से प्रत्येक जनपद की आर्थिक, सामाजिक, समस्याओं के सर्वेक्षण की योजना बनाई थी। इसके अन्तर्गत जनपद में स्थित 'प्रताप' प्रतिनिधि के माध्यम से सर्वेक्षण कराके, उसे प्रकाशित करने का कार्यक्रम आरम्भ किया गया था। यह सर्वेक्षण योजना सर्वप्रथम कानपुर के पड़ोसी, उन्नाव में शुरू की गई थी। यह योजना निश्चित ही 'प्रताप' सम्पादक के मौलिक चिन्तन और व्यावहारिक ज्ञान की परिचायक थी। ऐसी ही व्यावहारिकता उन्होंने राष्ट्रीयता की अतिवृद्धि तथा स्वाधीनता संग्राम के सम्बन्ध में दिखाई थी। 'प्रताप' को वे एक पत्र ही नहीं सशक्त संस्था के रूप में देखते थे। फलस्वरूप उसके माध्यम से, संवाददाता, प्रतिनिधि, विशेष प्रतिनिधि के रूप में, उन्होंने अपने विश्वस्त कार्यकर्ताओं का सारे देश में विशाल संगठन स्थापित कर लिया था। चाहे ब्रिटिश भारत हो, चाहे देशी राज्य, प्रत्येक क्षेत्र की राष्ट्रीयता विरोधी गतिविधियों की प्रामाणिक सूचना, सत्ता के दमनचक्रों की निर्मम कहानियाँ 'प्रताप' में प्रति सप्ताह प्रकाशित होतीं। इन कहानियों में सामाजिक अन्याय, रूढ़ि परम्पराग्रस्त अभिजात्य वर्ग का पाखण्ड, तथा भारतीय नारी की दुर्दशा के भी अनेकानेक दुःखद चित्र होते। राजनीतिक दासता की मुक्ति के साथ सामाजिक अधःपतन के गर्त से निकालने के लिये 'प्रताप' समय-समय पर जनमत जाग्रत करता। लेख कहानी, कविता, व्यग्य-विनोद, प्रहसन आदि के माध्यम से इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये 'प्रताप' सम्पादक जीवन-भर क्रियाशील रहे।

'प्रताप' सम्पादक के रूप में विद्यार्थी जी की समग्र सेवाओं को यदि हम विस्मृत कर दें, तो भी उनके दो महत् कार्य, उनकी युगबोधिनी दृष्टि, राष्ट्रीयता की शाश्वत भावना एवं अनूठी चिन्तन शक्ति के ऐतिहासिक साक्षी रहेंगे। प्रवासी भारतीयों की अकथनीय पीड़ा, विवशता तथा दुर्दशा की ओर उन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी भाषी क्षेत्र का ध्यान आकृष्ट किया। विडम्बना यह थी कि हिन्दी भाषी क्षेत्रों की जनता ही प्रवासी

के रूप में, पशुओं का जीवन बिता रही थी। अंग्रेजों, फ्रांसीसियों और पुर्तगालियों के कपट जाल में फँसकर हजारों भारतीय मारीशस, सूरीनाम ट्रिनीड़ाड, फिजी आदि द्वीप समूहों में बंधक बनाकर भेज दिये गये थे। उनके दलित, पीड़ित एवं शोषित जीवन की आज कल्पना नहीं की जा सकती। विद्यार्थी जी ने प्रवासी भारतीयों के जख्म भरे, दिलों पर सारे देश की सहानुभूति और संवेदना का शीतल लेप ही नहीं लगाया, उनके शोषकों को पूर्ण निर्भीकता के साथ प्रताड़ित और निन्दित भी किया। विद्यार्थी जी के ऐसे संपादकीय लेखों में प्रवासी भारतीयों के लिये गहन संवेदना और पीड़ा ही नहीं है देश, के आत्मसम्मान, मर्यादा और गौरव रक्षा की उत्कृष्ट ललक भी है। निर्भीकता और प्रखरता की गूंज शब्द-शब्द में सुनाई पड़ती है। दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों पर होनेवाले अत्याचारों की विशद चर्चा करते हुये उन्होंने 'प्रताप' के प्रथम अंक (१९१३) मे लिखा था—"अब हमें इम्पीरियल सरकार बतलावे कि क्या उसी की प्रजा का एक भाग, हमारे हकों नहीं, हमी को पैरों से कुचल कर धूल में मिला देने की कोशिशें नहीं कर रहा है? क्या इम्पीरियल सरकार क्या इस तरह से अपने बिगड़े हुये छोकड़ों (तात्पर्य अफ्रीका के अंग्रेजवासियों से है) का खेल देखना पसन्द करती है। सरकार को चुप न रहना चाहिये। हमारे देश के भाई तो अफ्रीका में रहते-सहते और टैक्स देते हुये वोट तक देने का अधिकार न पावें और वहाँ के निवासी हमारी सिविल सर्विस मे ऊँचे-ऊँचे पद पावें। हमारा करोड़ों रुपया लंदन में भारत सचिव के पास है और हमारे भारत सचिव ऐसे खुले दिल कि आप इन्हीं अफ्रीकी सज्जनों को, जो हमारे भाईयों को अफ्रीका से निकाल बाहर करने पर तुले हुये हैं, उन्हें उधार देते फिरें। बस यह उदारता बन्द होनी चाहिये।"

प्रताड़ना की दृष्टि से २३ नवम्बर १९१३ में उनके सम्पादकीय का निम्नांकित अंश आज भी हमें रोमांचित कर देता है—"दक्षिणी अफ्रीका की सरकार ने सभ्यता और मनुष्यता से नमस्कार कर लिया है। उदारता, सज्जनता और सत्यता से उसने आँखें फेर ली हैं। अत्यन्त नीचता और पशुता पर वह उतर आई है। अनाथों की बेबसी और स्त्रियों की लाचारी उसके हृदय को जरा भी नहीं हिलाती। वे (भारतीय) कैदखाने में ठूंसे जाते हैं। उन पर बेहिसाब कोड़े लगाये जाते हैं। आज्ञा है कि गोली तक मार दो। और यह किस लिये? इसलिये नहीं कि इन भले आदमियों ने कोई जुर्म किया है, इसलिये नहीं कि उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के गोरे निवासियों की गठरी काटी है—इसलिये भी नहीं कि उन्हें वही सब हक मिलें जो गोरों को प्राप्त हैं, लेकिन केवल इसलिये कि वे चाहते हैं कि वे भी दक्षिणी अफ्रीका में मनुष्य समझे जायें। सम्राट हमें समता का सन्देश देते हैं और इंग्लैण्ड अपनी इस चुप्पी से हमारे ऊपर अत्याचार होने देता है। यह बात उसका गौरव नहीं बढ़ा सकती। यदि उन्हें रोकने का वह नैतिक साहस नहीं रखता तो हमें दुःख से कहना पड़ता है कि अब उसके उन गुणों का, जिनसे वह संसार के राष्ट्रों में सर्वश्रेष्ठ गिना जाता है, ह्रास हो चला है और यह उसके भविष्य के लिये अच्छा नहीं।"प्रवासी भारतीयों का दर्द विद्यार्थी जी के हृदय में कितना गहरा

था, इसकी प्रतिध्वनि 'प्रताप' के कई अंकों में सुनाई पड़ती है। इस दर्द के साथ हमेशा उन्हें देश की परवशता, पराधीनता और गुलामी की कटु स्मृति आ जाती थी। विश्व की राजनीतिक स्थिति में भारत का निम्न स्थान देखकर उन्हें भयंकर संताप होता था, चारों ओर उन्हें निराशा ही नजर आती फिर भी उन्हें देश के उज्ज्वल भविष्य के प्रति अटूट विश्वास था। इस आस्था के पीछे भारतीय इतिहास की उनकी चिन्तन दृष्टि, विश्व के राजनीतिक घटनाचक्र को समझने की उनकी सम्पादकीय प्रज्ञा थी। शायद वे ठीक ही सोचते थे कि जब तक देश स्वाधीन नहीं होगा, तब तक इन समस्याओं का पूर्ण निराकरण सम्भव नहीं होगा। 'प्रताप' के द्वारा वे इसीलिये पूर्ण स्वाधीनता के आदर्श को पाने के लिये निरन्तर लोकमत प्रचारित करते।

प्रवासी भारतीयों के सम्मान पर होने वाले निरन्तर आघात से वे विचलित अवश्य हो जाते किन्तु अपने चिन्तन की ऊष्मा, आस्था की निरन्तरता, एवं निर्भीकता की अपरिमित क्षमता में कमी नहीं होने देते। "क्या संसार में हमारे लिये स्थान नहीं ?" शीर्षक सम्पादकीय में उनके ऐसे ही स्वरूप की झलक मिलती है। इस लेख का एक अंश यहाँ प्रस्तुत है—

"हमारे कितने ही बड़े गहरे मित्र हमें सलाह देते हैं कि विदेशों से हिन्दुस्तानियों को वापस बुला लेने का प्रयत्न करो। हमारी मातृभूमि कितनी ही गई गुजरी क्यो न हो, लेकिन उसमें इतना दम है कि वह उन सबको रोटी दे सके जो उसके हैं।" भावना और तर्क दोनों बिन्दुओं से इसी अंक की निम्नांकित पंक्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

"हमारी भुजायें अपने भाईयों के लिये खुशी से फैली हुई हैं। लेकिन इसके पहले कि हम उन्हें बुलायें, हम पूछना चाहते हैं अपने उन मित्रों से और अपने उन प्रभुओं से, जिनके हाथों में संसार की परम शक्ति ने भारत की शासन डोर सौंपी है कि क्या संसार में हमारे लिये स्थान नहीं ? हम उन लोगों के साथ स्वर नही मिला सकते, जिनके ये ख्याल हैं कि संसार में हिन्दुस्तानियों के लिये कोई स्थान नहीं—भयकर कालचक्र उन्हीं जातियों को संसार में टिकने देता है, जो संसार की उन्नति की पवित्र ड्योढ़ी पर अपना पुजापा चढ़ाने में नहीं चूकती। शताब्दियों से हम ठोंके और पीटे जा रहे हैं। शताब्दियों से हमारे अस्तित्व पर इतने जोर-जोर से भारी हथौड़े पर हथौड़े पड रहे हैं कि कोई और होता, तो अब तक उसका पता भी नहीं चलता। लेकिन तो भी कालचक्र की, भयंकरता की हमारे सामने कुछ न चली।"

इस संदर्भ में ऐसे ही दो अन्य लेखों में उन्होंने देश के प्रति अपने अटूट विश्वास और दृढ़ आस्था को प्रकट किया है। उनके विचार में प्रवासी भारतीयों की इस दुर्दशा के लिये भारतीय ही उत्तरदायी हैं क्योंकि वे निराशा के गर्त में डूबकर पराये शासन (ब्रिटिश शासन) से अपेक्षा करते हैं। वस्तुतः भारतीयों को अपने में दृढ़ इच्छा शक्ति और संकल्प पैदा करने की आवश्यकता है। इस शक्ति से ही अन्याय का जबर्दस्त मुकाबला किया जा सकता है और विदेशी शासन से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

बिना स्वाधीनता के किसी भी संकट निवारण की कल्पना मृगतृष्णा है। नैराश्य के घोर अंधकार तथा पतन की दयनीय स्थिति में भी भारतीयों को आस्थावादी बनने का उनका अपना तर्क और चिन्तन है। उन्हीं के शब्दों में जो देश ऐसी गिरी हुई अवस्था में भी रत्न पैदा कर सकता है (महात्मा गाँधी से आशय है) ऐसा रत्न, जिनका तेज बड़े से बड़े, रत्नों के तेज से कम न हो—उसे निराश होने की आवश्यकता नहीं।"

तर्क के साथ साहस एवं शक्ति संचित करने का उनका आह्वान कठोर नैसर्गिक सत्य एवं गहन विचार शैली पर आधारित है। तभी तो वे देशवासियों को चुनौती देते हैं। संसार में जिसमें अपना अस्तित्व कायम करने की शक्ति नहीं, उसे कालचक्र अधिक समय तक दूसरों का स्थान छेंके रहने की आज्ञा नहीं दे सकता। प्रकृति सदा फजूल चीजों की काट-छाँट मे लगी रहती है। कठिन समय, विपत्ति और घोर संग्राम और कुछ नहीं, केवल प्रकृति की काट-छाँट है। तपस्या में जो पूरे उतरते हैं उन्हीं को आगे बढ़ने का रास्ता मिलता है और दूसरों को अपना मुँह गुमनामी के पर्दे में छिपा लेना पड़ता है। अफ्रीका में आज हमारे भाईयों के लिये यही तपस्या पेश है।

'प्रताप' संपादक के रूप में विद्यार्थी जी का दूसरा महत् कार्य था, देशी राज्यो मे रहने वाले अगणितजनों की पीड़ा को 'प्रताप' के माध्यम से सम्पूण भारत की आत्मा से अनुभव करा देना। यद्यपि इस तथ्य का उल्लेख किया जा चुका है, तथापि संपादक के रूप में उनकी एक उपलब्धि का मूल्यांकन अधिक उपयुक्त है। तत्कालीन लगभग छः सौ रियासतों की जनता निरीह होकर गुलामी का जीवन बिता रही थी। इन देशी राज्यों में आतंक, भय एवं कठोर नियंत्रण की ऐसी लौह दीवार थी, जिसके भीतर की गतिविधियों को सही जानकारी पाना दुष्कर कार्य था। ऐसी जानकारी लेने वालो को विविध षड्यंत्रों का शिकार ही नहीं होना पड़ता, कभी-कभी जान से भी हाथ धोना पड़ता। उन देशी राज्यों की जनता सत्ता के क्रूर प्रहारों से इस प्रकार आहत थी कि स्वयं उसे कुछ कहने या लिखने की हिम्मत नहीं थी। अपने अधिकारों के प्रति सर्वथा सुप्त या तटस्थ, तरह-तरह के जुल्मों को सहते हुए, वह चेतना शून्य थी। बीसवी शताब्दी में रहकर भी यह जनता मध्यकालीन बर्बर युग में साँस ले रही थी। मध्ययुग की इस तमिस्रा को चीरकर प्रकाश की कुछ किरणों के बिखेरने का कार्य हिन्दी पत्रो मे सर्वप्रथम 'प्रताप' ने किया।

अधिकांश देशी राज्यो की जनता जिस कठोर बन्धन, कष्ट तथा हीन अवस्था मे रहती थी, उसका विस्तृत विवरण यहाँ सम्भव नही है। यदि संक्षेप में उस जनता की जिन्दगी का अनुमान करना हो तो उर्दू शायरी की निम्नांकित पंक्तियां यथेष्ट होगी—

मसर्रत पे रिवाजों का सख्त पहरा है।
न जाने कौन-सी उम्मीद पे दिल ठहरा है।

तेरी आँखों में झलकते हुए इस गम की कसम
ऐ दोस्त ! दर्द का रिश्ता बहुत ही गहरा है ॥

ऐसे दर्द के गहरे रिश्ते को विद्यार्थी जी ने आखिरी साँस तक निभाया । देशी राज्यों की आन्तरिक स्थिति से उन्होने स्वयं समय-समय पर देशवासियों को अवगत कराया । "देशी राज्यों का शासन सुधार" शीर्षक संपादकीय लेख में उन्होंने १८ नवंबर १८१३ को इसकी ओर ध्यान आकृष्ट किया । उन्होंने इस सम्बन्ध में अपनी राय देते हुए लिखा—

"समय की आवश्यकता और संसार की गति को देखते हुए, यदि सत्य पूछा जाय कि देशी राज्यों की प्रजा को सार्वजनिक क्षेत्र में काम करने का हक प्राप्त ही क्या है, तो इस प्रश्न का उत्तर मिलना कठिन हो जायगा । उन्नत से उन्नत देशी राज्यो मे भी सार्वजनिक कामों के करने की उतनी आजादी नहीं है जितनी अंग्रेजी भारत मे है, अधिकांश देशी राज्यों में तो राजाओं की इच्छा ही कानून है । वह स्वेच्छाचार दूर होना चाहिये । देशी राजाओं को स्वयं इसे दूर करना चाहिये । यदि वे ऐसा नहीं करते, तो उन्हें कोई हक नहीं कि वे उन लोगों को न्याय की दुहाई से प्रेरित करें, जो उन पर अत्याचार कर सकते हैं । अज्ञान और अवनति से पड़े हुए लोग पशु समान होते हैं । पशुओं पर शासन करने की अपेक्षा उन्नतिशील मनुष्यों पर शासन करना अधिक गौरव की बात है । क्या उसे (प्रजा) स्वेच्छाचार की मार सहते हुए, अज्ञान के अंधकार में भटकते हुए छोडकर देश आगे बढ़ सकता है ?"

देशी राज्यों की समस्याओं पर विविध कोणों से विद्यार्थी जी बराबर लोकमत जाग्रत करते रहे । प्रजा (जनता) को संगठित होने की प्रेरणा देने के साथ वे संबंधित राज्याधिपतियों में भी विवेक एवं न्याय बुद्धि उत्पन्न करने की चेष्टा करते रहते थे । वे इस बात को मानकर चलते थे कि देशी राज्यों के राजा भी इसी देश की संतान हैं, उन्हें भी देश प्रेम एवं राष्ट्र सेवा की ओर उन्मुख होना चाहिये । यदि वे अपनी निरंकुश वृत्ति समाप्त करके, इस सत्य की ओर से आँख बन्द किये रहेंगे तो उन्हें एक दिन अस्तित्व शून्य हो जाना पड़ेगा । ऐसी ही एक चेतावनी देते हुए उन्होंने १४ जून १८२० के 'प्रताप' में उदयपुर महाराणा के लिये लिखा था—"ईश्वर ने उन्हें एक बड़े राजवंश में जन्माया था, ऐसे राजवंश में जिसके राजा देश और देश के लोगों के लिये अपने प्राणों की बलि देना अपना धर्म मानते थे परन्तु उन्होंने (महाराणा उदयपुर) उस धर्म को नहीं निभाया, जो जन्म और कर्तव्य के कारण उनको निभाना चाहिये था । पुरानी रूढ़ियों और निरंकुशता की आदतों ने उनकी दृष्टि के सामने उन लोगों को पिसते और कुचलते ही रहने दिया, जिनकी रक्षा का भार उन पर था ।"

इसी लेख के अन्त में उन्होंने चेतावनी के रूप में घोषित किया था । "निरंकुशता का महल जितना ऊपर उठता है, उतनी ही उसकी नीवें पोली होती जाती हैं । स्वेच्छाचार का फल हाथों हाथ मिलता भले ही न दिखे परन्तु वह मूसलाधार वर्षा बरसने के लिये एकत्र होता रहता है । पता नहीं कि वह किस समय फट पड़े । छटे

काम न देंगी और नीचे उलट-पुलट कर न मालूम कहाँ को कहाँ बह जायेंगी।"

देशी राज्यों की जनता पर होने वाले अत्याचारों को छापने के पूर्व विद्यार्थी जी उस सम्बन्ध में प्रामाणिक एवं विस्तृत विवरण प्राप्त कर लेते थे। ऐसे विवरण प्राप्त होने पर ही वे 'प्रताप' में सार्वजनिक रूप से लिखना पसन्द करते थे। किसी असत्य या अतिरंजित समाचार के विषय में लिखना उनके लिये अधर्म था। ऐसे धर्म पालन के लिये उन्हें अनवरत संकट झेलने पड़े थे। रियासतों में 'प्रताप' प्रवेश की रोक के साथ उसके संवाददाताओं पर जुल्म, 'प्रताप' संपादक को कानूनी नोटिसें, कभी-कभी मुकदमें, कभी जेल, कभी बड़े-बड़े प्रलोभन, इन सबके बीच वे अडिग, निश्चल, सिद्धान्त निष्ठ एवं कर्तव्य परायण रहे। उनकी इस निष्ठा को व्यक्त करने के लिये राष्ट्रकवि पं० सोहन लाल द्विवेदी की निम्नांकित काव्य पंक्तियों में कवि के स्थान पर संपादक कर देने से सहज अभिव्यंजना हो जाती है—

मुझे नहीं है लोभ, राज्य के वरदानी,
वरदान का,
मुझे नही है लोभ, राज्य के सम्मानी,
सम्मान का।
मैं जनता का साथी हूँ, मैं कवि हूँ,
हिन्दुस्तान का।

सम्पादक विद्यार्थी जी के लिये सत्य प्राण था, सत्य जीवन था, सत्य ही जीवन के सुख-दुःख में उनका एक मात्र साथी था। देशी राज्यों के सम्बन्ध में भी वे इसी सत्य के अन्वेषण, पोषण अथवा अभिव्यक्ति एवं कृतित्व में लीन रहे। उदयपुर का एक उदाहरण दिया जा चुका है। उसी के पास बिजोलिया नामक एक जागीरदार की छोटी सी रियासत में कितने प्रकार का शोषण होता है इसकी सूचना विद्यार्थी जी के पास आई। उन्होंने उस सूचना के आधार पर विस्तृत विवरण प्राप्त किया। पत्रकारिता के इस वर्तमान युग में, एक छोटे से स्थान के अन्याय के लिये इतनी रुचि लेने, माथा-पच्ची करने, परेशान होने का आज किसे अवकाश है ? अन्याय, चाहे जिसके साथ हो, विद्यार्थी जी उसका साथ देंगे, यह विश्वास देश के लाखों शोषित पीड़ितों, पददलित जनों में था। बिजोलिया की अन्याय पीड़ित जनता का विद्यार्थी जी ने भरपूर साथ दिया। इस संबंध में 'प्रताप' में उन्होंने जो लेख लिखा वह उनके सत्यान्वेषण तथा सम्पादक धर्म निर्वाह का उत्कृष्ट उदाहरण है। इस लेख का आरम्भ उनकी ओजस्वी लेखनी तथा काव्यात्मक भाव शैली का सुन्दर प्रतीक है—

"रूढ़ियों के उपासक सावधान हों। जाग्रति का प्रवाह कहीं प्रगट रूप में और कहीं अन्तरतर में अपने पूरे बल के साथ बढ़ता चला आ रहा है। अचल युग के स्तम्भ टूट-टूट कर गिर रहे हैं। परिवर्तन की भीषण लहरें खंडहरों की प्राचीनता को धोती हुई आगामी युग का सन्देश दे रही हैं। गहन वनों की गुंजार वृक्ष लताओं को चीरती हुई पर्वत श्रेणियों और तमसाच्छन्न घाटियों से टकराती हुई वायु न मालूम कहाँ कहाँ

अपने नये भावों को छिपाती फिर रही है। प्रखर प्रकाश की किरणें ऊपरी नहीं, वरन् अन्तरतर में स्वयं प्रकट होने वाली ज्योतियाँ अंधकार में भटके हुए पथिकों को प्रकाश-मान पथ की ओर ले जा रही हैं। सावधान ! भक्तों की अटल भक्ति अब डिग गयी है। झुकने वाले सिर अब तुम्हारे चरणों के रखने की चौकी न रहेंगे और न उनके हृदय तुम्हारी अंधी श्रद्धा के पिंजड़े।"

इस प्रभावशाली भूमिका के बाद उन्होंने विस्तृत विवरण का विश्लेषण इस प्रकार किया है—

"मेवाड़ राज्य में एक बिजोलिया नामक ठिकाना है। यहाँ व्यवस्था और कानून प्रजा के लिये बने ही नहीं। शासकों की इच्छा के लिये कानून है। लगान और टैक्सों के साथ बेगार की प्रथा उनके पराधीन जीवन का सबसे बड़ा प्रमाण है। अंध-कार की छाया के नीचे रहकर उन्होंने यह सब सहा है, किन्तु हरेक बात की एक सीमा होती है।"

इसके पश्चात् वहाँ की जनता के कष्टों का विवरण प्रस्तुत किया है—

"गरीब प्रजा जिसके सामने सदा अकाल और रोगों की मृत्यु छाया अपने भीषण रूप में खड़ी रहती है, इन लगानों और बेगारों से त्राहि-त्राहि कर रही है। कोई ऐसा पेशा नहीं, कोई ऐसी जाति नहीं और कोई ऐसा त्योहार नहीं जिस पर लागत और नेगों की भयंकर छाया न हो। प्रजा के साथ कर्मचारी गण जो दुर्व्यवहार करते हैं, उसकी करुण कथा और भी अधिक दुःखदायी है।" बेगारी और टैक्सों की सूची इस प्रकार दी गई है। रतड़ा सुनाई, डीइली कसरात, राखी की राखी, गणगौर का चूडा, रेजा, लागत की खाल, बलिदान का बकरा, तेली का खूद, शहनों के जूते, जल सराई, कुम्हारों की बेगार, दर्जी की बेगार, कोतवाल की इछूं, कामदार की इछूं, तलवाना, राणी को सरकारी इछूं, मन्दिर की इछूं, फौज बराड शहर मोट, चौथ वर वाली, चौकी आदि-आदि। (प्रताप, २३ फरवरी १९२०)

देशी राज्यों के प्रति इतना आक्रोश और संताप होने के बावजूद विद्यार्थी जी संपादक के रूप में किसी भी महाराजा, राजा या प्रशासक से द्वेष नहीं करते थे। कभी-कभी ऐसी भी स्थिति आई कि जिस महाराजा या राजा ने उन्हें हानि पहुँचाई, उसे संकट में देखकर अथवा अंग्रेजी शासन द्वारा उसके साथ होने वाले अन्याय की स्थिति मे विद्यार्थी जी स्वयं उसकी सहायता के लिये अग्रसर हो जाते। इसका सबसे सटीक उदाहरण था इन्दौर नरेश महाराजा तुकोजीराव का मामला। उनके आन्तरिक जीवन मे मुमताज और कमलाबाई नाम की महिलाओं के प्रकरण में ब्रिटिश शासन ने महा-राज को राजगद्दी छोड़ देने के लिये विवश कर दिया। इसके पूर्व इन्दौर राज्य में भी 'प्रताप' प्रवेश पर रोक लग चुकी थी किन्तु विद्यार्थी जी ने सत्य और न्याय का आधार लिया। उन्होंने 'प्रताप' में संपादकीय लिखा कि बहुत सी देशी रियासतों में ऐसे मामले होते रहे हैं किन्तु ब्रिटिश शासन ने कभी उन राजाओं को गद्दी से नहीं हटाया। फिर यह दोहरा मानदण्ड क्यों ? वस्तु स्थिति यह है कि महाराजा तुकोजीराव कुछ स्वतन्त्र

विचार के हैं, उनका विचार स्वातन्त्र्य अंग्रेजी शासन को सह्य नहीं है। इस संपादकीय के बाद न केवल हिन्दी वरन् अंग्रेजी के भी बहुत से समाचार पत्रों ने 'प्रताप' संपादक का समर्थन किया। इसके बाद इन्दौर राज्य की ओर से कई बार 'प्रताप' सम्पादक को संकेत किया गया कि वे 'प्रताप' प्रवेश का अनुरोध कर लें और महाराजा उसे स्वीकार कर लेंगे किन्तु 'प्रताप' सम्पादक के लिये यह स्वीकार कैसे होता ? वस्तुतः सम्पादक के सामने महाराणा 'प्रताप' का आदर्श एवं हिन्दी के एक अत्यन्त लोकप्रिय प्रतिष्ठित पत्र के सम्मान का प्रश्न था।

सम्पादक विद्यार्थी जी की जिन दो महत् उपलब्धियों की चर्चा की गई है, उसकी समाप्ति के साथ, एक और महत्वपूर्ण पक्ष का उल्लेख उचित होगा। हिन्दी पत्रकारिता में सन् १९१५ से १९२५ तक का काल ऐसा था, जब हिन्दी में अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर लिखने वाले लेखकों की कमी थी। विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' के आरम्भ से ही इस पर ध्यान दिया था। इस विषय पर वे स्वयं लिखना पसन्द करते थे। 'प्रताप' के तत्कालीन अंकों में अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के विविध प्रश्नों और समस्याओं पर उन्होंने दर्जनों लेख लिखे। कभी-कभी पाठकों को विस्तृत जानकारी देने के लिये उन्होंने लेख माला का भी आयोजन किया। उन लेखों को पढ़कर, सम्बन्धित विषय की उनके अद्यतन ज्ञान, गहन पैठ तथा चिन्तन का भलीभाँति परिचय मिलता है। वैसे विद्यार्थी जी के मतानुसार अंग्रेजी पत्रों तथा हिन्दी पत्रों के पाठकों, क्षेत्र एवं दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर है। अंग्रेजी पत्रों के पाठक आम जनता के बीच के नहीं होते। ऐसी स्थिति में हिन्दी पत्रों को अंग्रेजी पत्रों में दी जाने वाली सामग्री से पृथक सामग्री देनी चाहिये। उनका विचार था कि हिन्दी पत्रों के प्रथम पृष्ठ पर अन्तर्राष्ट्रीय समाचार की अपेक्षा राष्ट्रीय तथा देश से सम्बन्धित विशिष्ट समाचारों को स्थान देना अधिक उपयुक्त होगा। इसी प्रकार सम्बन्धित जनपद तथा क्षेत्र की समस्याओं में हिन्दी पत्रों को विशेष रुचि लेनी चाहिये।

इस विचार के होने के बावजूद, वे हिंदी पाठकों को कूप-मंडूकता एवं संकुचित चिन्तन से मुक्त करने के लिये सचेष्ट रहते थे। 'प्रताप' में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एवं स्थिति के विश्लेषण के पीछे उनका उपर्युक्त दृष्टिकोण ही था। उनके लेखों में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर जैसा विश्लेषण मिलता है, उसमें विस्तृत अध्ययन के साथ निर्णायक शक्ति एवं दूरदर्शिता का विशेष समावेश है। "यूरोप के नक्शे में परिवर्तन" शीर्षक लेख में उन्होंने १८ अक्टूबर १९१४ को प्रथम महायुद्ध का विश्लेषण करते हुए घोषित किया था—

"हम जर्मनी की जीत को सम्भव नहीं समझते और न हम उसकी जीत का होना किसी प्रकार भी अच्छा समझते हैं। किन्तु क्या जर्मनी की हार पर ऐसा नहीं होगा ? क्या फ्रांस अपना अल्सासलारेन नहीं मांगेगा ? क्या इंगलैंड जर्मनी के उपनिवेशों पर हाथ साफ करना नहीं चाहेगा ? क्या यूरोप का भालू रूस, आस्ट्रिया के एक बड़े भाग को हड़प नहीं जायगा ? क्या इटली अपनी ताक में नहीं है ?"

इन तर्कों के पश्चात् एक दूरदर्शी सम्पादक का निष्कर्ष द्रष्टव्य है। उन्हीं के शब्दों में "राष्ट्रीयता के इस युग में जीते-जागते राष्ट्रों को अपने पैरों से कुचल डालना कोई सहज काम नही है। जर्मनी का सिर भले ही इस समय कुचल दिया जाय लेकिन उसका यह घाव, उसके जीते-जागते हृदय को उस समय तक चैन न लेने देगा, जब तक वह अपना बदला न ले जैसा कि हम इस समय फ्रांस के उदाहरण से देख रहे हैं।

इस अंश में रेखांकित दोनों अनुमान इतिहास ने सिद्ध कर दिखाया। विश्व के प्रथम महायुद्ध में जर्मनी की हार हुई और द्वितीय महायुद्ध जर्मनी की प्रतिहिंसामूलक चेष्टाओं का विनाशकारी परिणाम था। विद्यार्थी जी के एक दूसरे लेख का कुछ अश यहाँ प्रस्तुत है जिसमें उनके विस्तृत अध्ययन वृत्ति, राष्ट्रीय चेतना एवं चिन्तन की बड़ी स्पष्ट झलक है।

"यूरोप की कूट-नीति के चेहरे पर से नकाब उठता जाता है। यूरोप वाले अपनी सफाई में जो कुछ कहते हैं, उसका रूप सुन्दर और सलोना होते हुए भी चित्तों को मोह नहीं सकता। यूरोप कहता है टर्की ने बड़े-बड़े जुल्म किये हैं, इसलिये उसे दण्ड मिलना चाहिये। हमने तुर्कों के जुल्म की कहानियाँ पढ़ी हैं। इस समय भी हमारे सामने एक किताब पड़ी है जिसका लेखक अमेरिका का टर्की स्थित राजदूत है।"

समूची स्थिति का विश्लेषण करते हुए निम्नांकित अंश में उनकी चिन्तन-शीलता एवं तर्कना-शक्ति अपने आप प्रखर रूप में पाठक को प्रभावित करती है—

"निःसन्देह यूरोप वाले न्याय और सुशासन के ठेकेदार हैं परन्तु उनके काम और बात में आकाश और पाताल का अन्तर है। जिस समय अफ्रीका के कांगो प्रदेश मे देशी आदमियों पर बेलजियम का घोर अत्याचार हो रहा था, मनुष्य, मनुष्य नही, पशु समझे जाते थे, उस समय यूरोप की जबाँ पर क्यों ताला जड़ा हुआ था। अमेरिका मे नीग्रो लोग तनिक से अपराध पर जिन्दा जला दिये जाते हैं, तब आप क्यों नहीं बोलते ? बाक्सर युद्ध के समय यूरोप के महाबली राष्ट्रों ने चीनियों के प्रति कौन-सा अत्याचार बाकी रख छोड़ा था। तब आप क्यों चुप रहे ? मिस्र, भारतवर्ष, कोरिया और आयरलैण्ड को भी स्वाधीनता की चाह है फिर अकेला अरब ही क्यों स्वाधीनता का हकदार समझा जा रहा है ?" (प्रताप, ५ अप्रैल १९२०)

सम्पादक के रूप में विद्यार्थी जी की इन तीन महत् उपलब्धियों की चर्चा के बाद, उनकी अन्य विशेषताओं का उल्लेख भी आवश्यक है।

प्रत्येक पत्र का अपना आदर्श, सिद्धान्त नीति तथा कार्यप्रणाली होती है। इन आदर्श, सिद्धान्तों के परिपालन में कितनी ही कठिनाईयाँ आती हैं। 'प्रताप' का समय देश की परतंत्रता का था। उस समय की विषम कंटकाकीर्ण स्थितियों में आपको और सिद्धान्तों का परिपालन, तपस्या की भाँति था। विद्यार्थी जी ने सम्पादक के रूप मे इस तपस्या को पूर्ण किया। आदर्शों और सिद्धान्तों से इतर पत्रकारिता में अन्य सहज गुण माने जाते हैं। पत्र के माध्यम से सुरुचिपूर्ण पाठकों का व्यापक क्षेत्र, विविध विषयों पर जानकारी युक्त सामग्री, लोकरंजन की स्वस्थ परम्परा का पालन, पत्र की

रूप सज्जा, नियमित प्रकाशन, विचार, लेखन, प्रकाशन से लेकर विज्ञापन तक मे नैतिक मूल्यों की स्थापना, इन सब विशेषताओं की दृष्टि से किसी सम्पादक की श्रेष्ठता परखनी चाहिये। विद्यार्थी जी की संपादनकला इन सभी मानदण्डों पर खरी उतरती है। संभव है कि आज की अखबारी दुनियाँ में उपयुक्त मानदण्डों की उपयोगिता कम सिद्ध हो किन्तु 'प्रताप' के जमाने में केवल उपर्युक्त मानदंड ही श्रेष्ठ पत्रकारिता के लिये निर्धारित थे। उस समय की धारणा के अनुसार एक सफल सम्पादक को कम्पोजिंग करने, प्रूफ देखने से लेकर विज्ञापन देने और अग्रलेख लिखने तक का कार्य भलीभाँति जानना चाहिये।

विद्यार्थी जी उन सभी कार्यों में प्रवीण थे। शुरू में तो 'प्रताप' की आर्थिक दशा इतनी खराब थी कि सम्पादक, मैनेजर से लेकर चपरासी और दफ्तरी का काम भी विद्यार्थी जी तथा उनके दूसरे सहयोगी श्री मिश्र जी (श्री शिवनारायण) को करना पडा था। 'नवराष्ट्र' पटना के सम्पादक तथा विद्यार्थी जी के सहयोगी श्री देवव्रत शास्त्री ने इस तथ्य की पुष्टि की है। सम्पादक के रूप में मात्र आर्थिक लाभ के लिये उन्होंने कुरुचिपूर्ण विज्ञापन अथवा हलके किस्म की सामग्री देना कभी स्वीकार नहीं किया। 'प्रताप' के आरम्भिक कुछ महीनों के अंकों में हलके किस्म के विज्ञापन छपे हुए मिलते है पर बाद में उन्होंने नियम बनाकर जनता को ठगने वाले, असत्य, कुरुचिपूर्ण विज्ञापनो को छापना बन्द कर दिया। प्रताप के ३० नवम्बर १९१३ के अंक में छपी हुई सूचना इस प्रकार है—"प्रताप में सुजाक, आतशक आदि के विज्ञापन न छपेंगे। जनता को ठगने वाले तथा अश्लील भाषा में लिखे हुए विज्ञापन भी 'प्रताप' में नहीं छपेंगे।"

इससे 'प्रताप' को काफी आर्थिक क्षति उठानी पड़ी, किन्तु 'प्रताप' सम्पादक ने कठिनाईयाँ झेल लीं। आर्थिक प्रलोभन के कठिन पाश में न वे स्वयं बँधे और न 'प्रताप' को बाँधा। विद्यार्थी जी सादगी पसन्द थे। वे पत्र की चमक-दमक सजावट के फेर मे नहीं पड़ते थे किन्तु उसे शुष्क और नीरस भी नहीं होने देते थे। प्रायः प्रत्येक अंक मे वे चित्र प्रकाशित करते थे, पर सभी चित्र राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत रहते थे। विशेष अवसर तथा आवश्यकतानुसार 'प्रताप' के विशेषांक निकालने का उन्हें सदैव ध्यान रहता था।

इस सम्बन्ध में श्री लक्ष्मीधर बाजपेयी का तो यहाँ तक विचार है कि "शुरू मे प्रत्येक वर्ष दशहरे पर राष्ट्रीय अंक निकालकर हिन्दी में विशेषांक निकालने की परिपाटी उन्हीं ने चलाई थी।" (प्रताप, १२ अगस्त १९१७)

यद्यपि 'प्रताप' राष्ट्रीयतामूलक स्वाधीनता संग्राम सम्बन्धी सामग्री देने मे विशेष रूप से आगे था, किन्तु सामान्य पाठकों के लिये स्वस्थ मनोरंजन, चुटीले हास्य-विनोद, विभिन्न सामयिक विषयों पर व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ, 'प्रताप' के प्रत्येक अंक मे मिलती हैं। व्यंग्य-विनोद की ऐसी सामग्री को वे पत्र के लिये आवश्यक समझते थे, इसकी झलक उन्हीं की लिखी गई निम्नांकित टिप्पणी में है—

"भारत मित्र के मौजी ने एक वर्ष बाद जागकर संसार में यह साबित कर

दिया है कि कुम्भकरण के ६ महीने सोने की बात झूठी नहीं है। हम मौजी का स्वागत करते हैं। हमें वे दिन याद आते हैं, जब 'भारत मित्र' का पैकेट खोलते ही पहिले हम यही देखते थे कि इस अंक में मौजी के विचार हैं या नहीं? जिस सम्पादक की कलम से विनोद की बातें नहीं निकल सकतीं, जो पुराने बैल की तरह सदा संजीदगी की लार टपकाया करता है, उसके पत्र से कुछ भी वास्तविक लाभ नहीं। अतएव एक बार हम फिर कहते हैं, स्वागत महाबाहो।" (प्रताप, २४ जुलाई १९१४)

मनोरंजन की सामग्री प्रकाशित करने के लिये उन्होंने 'प्रताप' में कुछ स्तम्भों का नियमित प्रचलन किया था जैसे 'गोलमालानंद', 'गपशप' अथवा 'कुछ इधड़, विधड़' आदि।

गोलमालानन्द का एक गोलमाल देखिये—

"हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापतित्व के लिये संभव है फिर खख-चख हो, इसलिये मैं अभी से अपनी राय दिये देता हूं। मेरी राय में पंचम हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति चोरगढ़ी के ठाकुर नादिहुलसिंह होने चाहिये क्योंकि उनके होने से लोग धन देने की प्रतिज्ञायें बहुत कर देंगे। अगर वे अस्वीकार करें तो उन्ही के रिश्तेदार मालमूर्सासिंह या मौजी मार्लसिंह सभापति बनाये जायं। अगर जरूरत पड़ी तो आपको खुश करने के लिये खुशामदीसिंह को मैं भेज दूंगा।"

(प्रताप, १२ जुलाई १९१४)

विनोद के दूसरे स्तम्भ का एक नमूना और देखिये—

"तजुरबेकार लोग कहते हैं कि पटवारी में 'प' से पाजी, 'ट' से टर्री, 'वा' से वाहियात और 'री' से रिश्वतखोर होता है।"

"संतरी देख के इस जोश को गरमायेंगे। गीत जंजीर की झनकार पे हम जायेंगे।"

इसी प्रकार २५ दिसम्बर १९२७ के 'प्रताप' में विख्यात काकोरी केस के शहीदों का समाचार के साथ उन्होंने निम्नांकित शीर्षक और काव्य पंक्तियां प्रकाशित की थीं—

"काकोरी केस के चारों युवकों को फांसी, चारों वीर हंसते-बोलते फांसी पर चढ गये।"

"हम सरे दर वसद शौक जो घर करते हैं,
ऊंचा सर कौम का नजर पै सर करते हैं।
सूख न जाय कहीं पौधा यः आजादी का,
खून से अपने इसे इसलिये तर करते हैं।
रंग दिखलायेगा यह खून हमारा, पै,
गम नहीं, बेखता वे कत्ल अगर करते हैं।
इस गुलामी में खुशी हमको तो आई न नजर,
खुश रहे अहले वतन हम तो सफर करते हैं।'

इस काव्य अंश के पश्चात् काकोरी केस का विस्तृत समाचार प्रकाशित है। 'प्रताप' के विविध अंकों में राष्ट्रीय समाचारों के प्रकाशन में ऐसी ही शैली निरन्तर अपनाई गई है। ५ मई १९१९ के अंक में प्रकाशित एक समाचार का नमूना यहाँ प्रस्तुत है—

"हमें भी फ़िक्र नहीं, सर रहे न रहे
तुम्हारी तेग को कातिल अगर मियान नहीं।
पंजाब में फौजी शासन
प्राणदण्ड और काले पानी की धूम
एक हज़ार छात्रों को दण्ड,
इलाहाबाद से ओडायरशाही
इंडिपेन्डेंट पर चढ़ाई।"

राष्ट्रीय समाचारों के अतिरिक्त अन्य सामान्य समाचारों के सम्बन्ध में विद्यार्थी जी की नीति दो बिन्दुओं पर पूर्णतः आधारित थी। एक तो उसकी सत्यता, दूसरी, देश एवं लोकहित में उसका औचित्य। समाचारों की सत्यता के सम्बन्ध में उनका नैतिक मानदण्ड इतना ऊंचा था कि यदि उनके बड़े से बडे विरोधी के सम्बन्ध में भी कोई समाचार गलत सूचना पर आधारित होता तो भी अवश्य अपनी भूल सार्वजनिक रूप से स्वीकार कर लेते। इसके विपरीत, यदि समाचार सत्य होता तो उसके प्रकाशन से उत्पन्न विपरीत संकटपूर्ण परिस्थितियों की रंचमात्र परवाह नहीं करते। इसके लिये 'प्रताप' और उसके संपादक को कितना लम्बा तथा कठोर संघर्ष करना पड़ा, इसका विश्लेषण पृथक से करना युक्ति संगत होगा।

सत्य समाचारों के प्रति उनके नैतिक आदर्श का एक उदाहरण यहाँ उल्लेखनीय है। नवम्बर १९१८ में कदारपुर नामक स्थान में एक उपद्रव हुआ, जिसका समाचार 'प्रताप' में प्रकाशित हुआ। विद्यार्थी जी ने समाचार के साथ ही एक संक्षिप्त टिप्पणी भी लिख दी। बाद में तत्कालीन ब्रिटिश सरकार द्वारा ध्यान दिलाने और समाचार के कुछ तथ्यों को गलत पाने के बाद तत्काल उन्होंने अपनी भूल निम्नांकित शब्दों में सार्वजनिक रूप से स्वीकार कर ली। "इस समाचार और टिप्पणी के कुछ शब्दों या वाक्यों से गलत सूचना के कारण यदि सरकार पर बदनीयती या पक्षपात का दोषारोपण होता है तो उसे हम वापस लेते हैं। 'प्रताप' की यह नीति नहीं कि किसी पर चाहे वह व्यक्ति हो या सरकार व्यर्थ दोषारोपण करे।"

(प्रताप, १६ दिसम्बर १९१८)

इसी प्रकार 'जमींदार' नामक उर्दू का पत्र राष्ट्रीयता का कट्टर विरोधी था और 'प्रताप' से उसका कट्टर मतभेद था। अयोध्या में हिन्दू-मुस्लिम दंगा होने पर उसने आपत्तिजनक सामग्री प्रकाशित की, परिणामस्वरूप, उस समय प्रचलित प्रेस ऐक्ट के अन्तर्गत उसका प्रकाशन सरकार ने बन्द कर दिया। विद्यार्थी जी के विचारानुसार सरकार ने आवश्यकता से अधिक दमन किया इसलिये उन्होंने निम्नांकित टिप्पणी में

इस कार्य का विरोध प्रकट किया—

"जमींदार एक ऐसा पत्र था जो हिन्दुओं पर बेतरह खार खाये बैठा था। कोई अंक न जाता था कि वह हिन्दुओं पर कीचड़ न फेंकता हो और इस बात को जानते हुए भी कि जप्ती के कारण वाले लेखों में एक लेख अयोध्या के हिन्दुओं और शासकों के खिलाफ था, हम 'जमींदार' की अकाल मृत्यु पर दुखित हुए बिना नहीं रह सकते क्योंकि हम समझते हैं कि वह कानून का शिकार हुआ है जो काफी से अधिक जबर-दस्त और अनुचित है। (प्रताप, ११ जनवरी १९१४)

किसी भी संपादक की सुरुचि, दृष्टिकोण तथा कलात्मकता का परिचय उनके पत्र में प्रकाशित होने वाली सामग्री से मिलता है। विद्यार्थी जी 'प्रताप' में उच्च कोटि की पाठ्य सामग्री देने पर बराबर ध्यान रखते। वे सदैव स्वस्थ विचारोत्तेजक, राष्ट्रीयता-पोषक साहित्य देने में प्राथमिकता देते। उनके संपादन काल के आरम्भ से अन्त तक 'प्रताप' के अंकों को देख जाइये, कहीं भी कुरुचिपूर्ण मर्यादा, मूक एवं संकुचित मनोवृत्ति को प्रोत्साहित करने वाली पाठ्य सामग्री नहीं मिलेगी। इसके मूल में पत्र प्रकाशन के पूर्व, सारी सामग्री स्वयं देखने की उनकी सावधानी और तत्परता थी। उनके एक सहयोगी श्री विष्णुदत्त जी शुक्ल ने इस तथ्य की अपने एक संस्मरण में पुष्टि की है। दूसरे सहयोगी श्री देवव्रत शास्त्री ने भी ऐसा ही विचार निम्नांकित शब्दों में प्रस्तुत किया है—

"वे (विद्यार्थी जी) इस बात का बहुत ख्याल करते थे कि 'प्रताप' में कोई ऐसी चीज न प्रकाशित हो जिससे रुचि बिगड़ती हो। कई दफे ऐसा मौका आया कि हम लोग लेख और कवितायें, संपादित करके उनके पास ले गये और उन्होंने उसमें जो क्लिष्ट देखा देने से रोक दिया। कम्पोज होने के लिए देने से पहले प्रायः सब मैटर वे एक बार देख लेते थे। एक दफे हमारे एक सहकारी मित्र ने एक कविता प्रकाशनार्थ देनी चाही। नियमानुसार विद्यार्थी जी ने सब मैटर के साथ उस कविता को भी देखा। उन्होंने उस कविता का अर्थ उन महाशय से पूछा। वे कुछ संतोषजनक उत्तर न दे सके। उन्होंने उसे निकालकर उसकी जगह दूसरी कविता देने को कहा। भाई बालकृष्ण जी को उस कविता का अर्थ मालूम था। कविता वास्तव में थी भी अच्छी, अतः नवीन जी ने उसे देने पर जोर दिया। विद्यार्थी जी ने उत्तर दिया, "भाई जिस कविता को हम लोग नहीं समझते, उसको हमारे अधिकांश पाठक नहीं समझ सकते। ऐसी कविता अच्छी होने पर भी हमारे किस मतलब की ?"

'प्रताप' में प्रकाशित सामग्री के सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान अवश्य जाना चाहिए। पूर्व पृष्ठों में उल्लेख किया जा चुका है कि हिन्दी के कितने स्वनामधन्य साहित्यकार 'प्रताप' के माध्यम से उदित हुए। वस्तुतः राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति के साथ, विद्यार्थी जी ने अखिल भारतीय स्तर पर हिन्दी का एक साहित्यिक धरातल निर्मित किया। 'प्रताप' के अंकों में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं० माखन लाल चतुर्वेदी, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री मन्नन द्विवेदी, पं० रामनरेश त्रिपाठी

श्री कृष्ण बिहारी मिश्र, श्री गया प्रसाद शुक्ल 'स्नेही', श्री जगदम्बा प्रसाद जी हितैषी आदि की रचनायें बराबर प्रकाशित होती रहीं। पत्रकारों में, एक नयी पीढ़ी, जुझारू पीढ़ी 'प्रताप' ने उत्पन्न किया। इस पंक्ति में श्री दशरथ प्रसाद द्विवेदी थे, जिनके 'स्वदेश' साप्ताहिक का मूल मन्त्र था—"स्वर्गालय के लिए आत्मबलि हम न करेंगे। जिस स्वदेश में जिये, उसी पर सदा मरेंगे।" इसी प्रकार श्री हरिभाऊ उपाध्याय, श्री गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र', श्री सीताचरण दीक्षित, श्री देवव्रत शास्त्री, श्री श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, श्री सुरेन्द्र शर्मा, श्री बटुकदेव शर्मा आदि अनेक नाम इस दिशा को आलोकित करने में अग्रणी रहे। 'हिन्दी पत्रकारिता विविध आयाम' (संपादक डॉ० वेद प्रताप वैदिक) नामक नव प्रकाशित ग्रंथ में इस तथ्य को इन शब्दों में स्वीकार किया गया है—"हिन्दी पत्रकारिता के माध्यम से देश की नयी पीढी को प्रेरणा देना तथा उनका मार्ग दर्शन करना गणेश जी का मुख्य ध्येय था। उत्तर प्रदेश की हिन्दी पत्रकारिता में श्री गणेश शंकर विद्यार्थी तथा उनके 'प्रताप' का योगदान सदैव स्मरणीय और प्रेरणा का बिन्दु बना रहेगा।"

अभी कुछ माह पूर्व मार्च १९७९ में इन पंक्तियों के लेखक से बात करते हुए हिन्दी के श्रेष्ठ कवि, एकांकीकार पूज्य डॉ० कुमार वर्मा ने बताया कि मुझे कवि के रूप में प्रोत्साहित करके हिन्दी जगत् के सामने लाने का सारा श्रेय श्री विद्यार्थी जी और 'प्रताप' को है। बातचीत के तारतम्य में उन्होंने विद्यार्थी जी से सम्बन्धित एक रोचक घटना भी सुनाई। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के गोरखपुर अधिवेशन में विद्यार्थी जी ही सभापति चुने गये थे। वहाँ डॉ० वर्मा ने विद्यार्थी जी को उसी साल प्रकाशित अपनी एक कृति भेंट की, जिसका शीर्षक था—'अभिशाप'। विद्यार्थी जी ने हँसते हुए कहा—"क्या अभिशाप मुझे ही मिलना था।" डॉ० वर्मा ने उत्तर दिया—"आपकी तेजस्वी, संघर्षशील राष्ट्रीय वृत्ति के लिए दुनिया यही देगी।" विद्यार्थी जी मुस्कराने लगे और संयोग कि उसी वर्ष उनका निधन हो गया।"

विद्यार्थी जी 'प्रताप' में प्रायः प्रत्येक अंक में स्वतन्त्रता संबंधी एक न एक लेख अवश्य देते[1]। इसी प्रकार काव्य रचनाओं में जय स्वतन्त्रते, बलिदान, मातृभूमि आदि से संबंधित कविताओं की धूम रहती। राष्ट्रीय काव्य रचना के तारतम्य में 'प्रताप' के विविध अंकों में उर्दू काव्य धारा का रसास्वादन बराबर किया जाता रहा। ऐसी एक-दो रचनायें यहाँ उद्धृत हैं—

१८ मार्च १९१८ के 'प्रताप' में प्रकाशित एक रचना का अंश इस प्रकार है—

बताओ मुल्क का मैं हाले जार क्या लिखूं ?
ख्याल ही से है दिल बेकरार क्या लिखूं ?
अजब मैं हूं फंसा जाने जार क्या लिखूं ?
बता दे तू ही दिले बेकरार क्या लिखूं ?

---

१. अमेरिका में स्वतन्त्रता, आयरलैण्ड का स्वराज्य, देवी जोन क्रमशः दिसम्बर १३, २१, २८ सन् १९१३।

इसी तरह ६ अगस्त १९१७ में प्रकाशित निम्न पंक्तियों में स्वर्णिम अतीत का इस प्रकार स्मरण है—

वह दिन कहाँ, कहाँ वह इशरत का कारखाना,
वह गुल का खिल खिलाना, बुलबुल का वह तराना,
अब वह चमन कहाँ, दुनिया में जिसका गाना,
वह शाखेतर कहाँ है जिस पर था आशियाना,
आता है याद हमको गुजरा हुआ जमाना।

तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्धित इतनी प्रचुर सामग्री 'प्रताप' के पृष्ठों में मिलती है जिससे भारत के स्वाधीनता संग्राम के इतिहास लेखन में महत्व योग-दान मिल सकता है। ब्रिटिश सरकार के दमन, देश प्रेमियों को दी जाने वाली पीड़ा, तरुणाई के अर्थ, पुरुषों की बलिदानी भावना—इन सबसे सम्बन्धित सामग्री का प्रकाशन 'प्रताप' के लिए स्वधर्म था। सन् १९२१ में तत्कालीन मध्य प्रान्त (अब मध्य प्रदेश) सरकार द्वारा हिन्दी के सुप्रसिद्ध पत्रकार तथा राष्ट्रीय कवि पं० माखन लाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा' को गिरफ्तार करने पर विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' में जो संपादकीय लिखा था, वह अत्यन्त प्रभावशाली, मार्मिक एवं भावोत्तेजक था। आज लगभग ६० वर्षों के बाद भी वह लेख वैसे ही भावोत्तेजन में समर्थ है। इसकी कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती है—

"आँखों के जल से पंजाब पीड़ितों के घावों को धोने के अपराध में क्रूरता ने 'एक भारतीय आत्मा' को हम लोगों के बीच से छीन लिया है। अगर आज्ञा हो तो "साथ लिए आऊँ बध का सामान" इतनी तत्परता थी, उस हृदय में बलि हो जाने की। आज उसकी वह साध पूरी हो गई। मध्य प्रान्त की सरकार ने अहिंसा की प्रति-मूर्ति पर अपने दमन का अस्त्र चलाकर, अपने दिल के पत्थरपन का, अपने दिमाग के मोटेपन का और अपने खूनी पंजे का नंगापन देश के सामने रख दिया। अब उनकी शान्त सौम्य धारी मूर्ति से सी० पी० के जेल पवित्र होंगे।"

आगे के अंश में 'भारतीय आत्मा' के व्यक्तित्व का कैसा भावात्मक, आत्मिक एवं मार्मिक निरूपण है। "माखनलाल जी ऊँची आत्मा हैं। उन्हें पीड़ा होती थी। उन्हे कसक होती थी। देश पर होने वाले अत्याचारों को वे अनुभव करते थे। उसकी करुण कथा वे सबको सुनाते थे।...एक व्यक्ति का जिसके जीवन के प्रत्येक कार्य में, प्रत्येक भाव में और प्रत्येक विचार में अहिंसा की छाप लगी हो, जो ईसा और टालस्टाय, गांधी और रोम्यारोलां की बातों को अक्षरशः मानता हो,...जिसकी भावभंगी तक से निश्चयता, नीरव, सरस, मनोहर अहिंसात्मक भाव टपकते हैं, उस मध्य प्रान्त के प्रारब्ध, हिन्दी साहित्य के कवीन्द्र और भारत के हेनरी फ्रेडरिक को इस तरह पकड़ लेना पशु-हृदयता का परिचय देना है।"

'भारतीय आत्मा' के व्यक्तित्व के साथ, उनकी साहित्यिक प्रतिभा की गहराई को इन शब्दों मे किस भाव व्यंजना के साथ नापा गया है—

"भारतीय आत्मा ने हिन्दी संसार को काव्य की एक नवीन अनूठी दिशा सुझाई है। बलिदान शब्द मातृभाषा के लिये उन्हीं का दिया हुआ सुउपहार है। पहले से इस शब्द का प्रयोग होता रहा होगा किन्तु बलिदान को इतना प्यारा और इतना प्रचलित बनाने का श्रेय 'भारतीय आत्मा' को ही है। आज मोहन की मुरली की तान सुनकर श्री माखनलाल जी बलिवेदी की भेंट होने गये हैं। हमारा चिंतित हृदय बार-बार सोचता है। रामबान की कुटाई, कोल्हू की चलाई, चक्की की पिसाई और माखनलाल जी का अत्यन्त शोचनीय स्वास्थ्य।

क्या होने वाला है हे हरि!
ऐसी नादिरशाही से।"

(प्रताप, २१ जून १९२१)

इस तरह, उस समय का 'प्रताप' राष्ट्रीय आकांक्षाओं, आशाओं, यंत्रणाओं तथा संघर्षों का सच्चा प्रतीक बन गया था। सुप्रसिद्ध काकोरी केस के उन बन्दी क्रान्तिकारियों (जिन्हें मृत्यु दण्ड देने का निर्णय हो गया था) के पत्र 'प्रताप' में प्रकाशित किये गये थे। पत्र लिखने वालों में पं० रामप्रसाद विस्मिल थे जिनके स्वरचित गीत की ये पंक्तियाँ जन-जन के कंठों की गुंजार बन गई थीं—

सरफरोशी की तमन्ना
अब हमारे दिल में है।
देखना है और कितना
बाजुएँ कातिल में है।

विस्मिल जी ने गोरखपुर बन्दीगृह से जो पत्र लिखा था, वह 'प्रताप' मे प्रकाशित किया गया था। उस पत्र की कुछ मार्मिक पंक्तियाँ अवलोकनार्थ प्रस्तुत है—

"मैं खूब सुखी हूँ। १९ दिसम्बर को सबेरे जो कुछ होने वाला है, उसके लिए अच्छी तरह तैयार हूँ। अधिक नहीं, तो काफी शक्ति तो अवश्य ही परमात्मा मुझे प्रदान करेंगे। यह है भी कुछ नहीं, शरीर का बदलना मात्र है। मेरा पूर्ण विश्वास है कि मेरी आत्मा, मातृभूमि तथा उसकी दीन संतान के लिए नया उत्साह और ओज के साथ काम करने के लिए फिर लौट आयेगी।

मेरा नमस्ते कृपा करके सबसे कहिये और इतना कष्ट और उठाइये कि मेरा अंतिम नमस्कार पं० जगतनारायण मुल्ला की सेवा तक भी पहुँचा दीजियेगा। उन्हे हमारी कुर्बानी और खून से सने हुए रुपये की कमाई से सुख की नींद आवे। बुढ़ापे मे भगवान् पं० जगतनारायण को शक्ति प्रदान करें।"

रामप्रसाद बिस्मिल श्री रोशनसिंह ने इलाहाबाद से जो पत्र लिखा था, उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार थीं—

"इस सप्ताह के भीतर ही फांसी होगी। ईश्वर से प्रार्थना है कि वह आपकी मोहब्बत का बदला दे। आप मेरे लिए हर्गिज रंज न करें। दुनिया में पैदा होकर मरना जरूरी है। दुनिया से कोई बदफेल कर अपने को बदनाम न करे और मरते वक्त

ईश्वर की याद रहे, यहाँ दोनों बातें हैं। हमारे शास्त्रों में लिखा है कि जो आदमी धर्म-युद्ध में प्राण देता है, उसकी वही गति होती है जो जंगल में तपस्या करके मरने वाले की।

जिन्दगी जिन्दादिली को
जान से रोशन करना
कितने मरे और कितने पैदा होते हैं।"

इसी सन्दर्भ में शहीद भगतसिंह के उस पत्र का भी उल्लेख आना स्वाभाविक है जो उन्होंने मृत्यु दण्ड की निर्धारित तिथि (२३ मार्च १९३०) के पूर्व काल कोठरी मे लिखा था। उस प्रकाशित पत्र की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार थीं—

"प्रभात के प्रकाश में नियति को कौन रोक सकता है? यदि समूचा संसार भी हमारे विरुद्ध हो जाये तो हमारी क्या हानि कर सकेगा? प्यारे मित्रों! मेरे जीवन को आज संध्या है, दीपक की शिखा की तरह प्रातः के प्रकाश के पूर्व ही बुझ जाऊँगा। हमारा विश्वास तथा हमारे विचार समूचे संसार को बिजली के प्रकाश की तरह एक ही ज्योति से आलोकित कर देंगे। इससे हानि ही क्या है कि यह मुट्ठी भर धूल नष्ट हो जायगी।"

ऐसी राष्ट्रीय सामग्री देने के लिए विद्यार्थी जी प्रत्येक स्रोत का उपयोग करते थे। जिन लेखकों का सहयोग 'प्रताप' में मिलता था, उनका उल्लेख किया गया है। लेखकों के अतिरिक्त ऐसे-ऐसे क्रान्तिकारियों की रचनाओं को 'प्रताप' में स्थान दिया जाता था जिनका नाम लेना भी उस समय अपराध था। शहीद भगतसिंह को 'प्रताप' प्रेस मे न केवल आश्रय मिला था वरन् विद्यार्थी जी ने उन्हें 'प्रताप' मे क्रान्तिकारी विषयों पर छद्म नाम से जी खोलकर लिखने की अनुमति भी दे दी थी। सरदार भगतसिंह का लिखा हुआ एक ऐसा ही ऐतिहासिक लेख "खून की प्यास" शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। इस लेख के उत्तेजक प्रेरक विचार, चिंतन की ऊष्मा तथा भाषा की समर्थता देख-कर सामान्य पाठक शायद ही विश्वास करेगा कि शहीद भगतसिंह की लेखनी में भी वही शक्ति थी जो उनके उन फौलादी हाथों में थी। इन्हीं हाथों ने निरंकुश ब्रिटिश सरकार के बहरेपन को दूर करने के लिये "इन्कलाब जिन्दाबाद" का सर्वप्रथम घोष करके दिल्ली की पार्लियामेन्ट में बम फेंककर संसार को आश्चर्य चकित कर दिया था। उस लेख के कुछ अंश यहाँ उद्धृत हैं।

"अपने मृत जीवन को देखने तक का अवकाश नहीं। घुड़दौड़ में सिंहा-वलोकन का अवसर ही नहीं मिलता। मनुष्यता चली जा रही है।...ऐसा प्रतीत होता है, मानो अनेक विघ्न अनेक घाटियों, अनेक कंटकों को पार कर आज मनुष्यता समय रूपी भूधर के इस वर्तमान शिखर पर चढ़ी हुई एक अज्ञात गर्भ में कूदने को उद्यत है। एक ओर भूत जीवन का गहरा गढ़ा है, जिसे वह पार कर चुका है और दूसरी ओर भविष्य का गंभीर गह्वर। जिस मार्ग से होकर वह आई है, उस मार्ग की ओर दृष्टि-पात नहीं करती। यदि ऐसा करे तो संभवतः अपने ही खून में रंगे हुए कुछ आरक्त एवं

मार्ग दर्शक स्तम्भ दिखलाई देंगे, जिन पर विषाद ने अपनी उंगलियों से लिखा है—"सावधान"।

'प्रताप' में प्रकाशित सामग्री की विस्तृत चर्चा के बाद विद्यार्थी जी द्वारा 'प्रताप' के लिए निर्धारित मानदण्ड का उल्लेख प्रासंगिक है। विद्यार्थी जी के सहयोगी पत्रकार श्री विष्णुदत्त जी शुक्ल ने इस सम्बन्ध में लिखा है—

"जो समाचार आते, उनकी सत्यता की जाँच किये बिना वे छापने न देते थे। जब कभी कहीं से किसी प्रकार से जनता को सताने की कहानियाँ उनके पास आती, तब वे उनका प्रतिकार करने के लिए तैयार मिलते। इस कार्य में उन्हें जितनी मुसीबतें उठानी पड़ीं थीं, उतनी शायद ही किसी अन्य संपादक को उठानी पड़ी होगी। हजारों रुपयों का नुकसान, जेल यातना, मानसिक चिन्ता, शारीरिक श्रम आदि सब कष्ट इसके लिए उन्हें सहने पड़े; धमकी की चिट्ठियाँ और नोटिसें तो प्रायः रोज ही आया करती थीं।...'प्रताप' से जनता की सेवा हो, उससे किसी पाठक का कोई नुकसान न हो, इस बात की वे बहुत चिन्ता रखते थे।"

मोटे तौर पर यह एक निर्धारित मार्ग था किन्तु विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' की संरचना तथा स्वरूप में कुछ निश्चित सिद्धान्तों का समावेश किया था। उनमें से मुख्य थे, देशप्रेम, जनसेवा, नैतिकता, निर्भीकता, सत्यता तथा न्यायप्रियता। इन सिद्धान्तों की उन्होंने आजीवन प्राण-प्रण से रक्षा की। उनके अनेक सहयोगियों ने इन सिद्धान्तो से प्रेरणा एवं शक्ति प्राप्त की। जन-जन की पीड़ा तथा पुकार को प्रतिध्वनित करने का दंभ भरने वाले पत्रों की न तो तब कमी थी और न आज है। 'प्रताप' इन पत्रो से सर्वथा पृथक था। उसका आदर्श, अपने विचार, अपनी कार्यशैली, अपना लक्ष्य बिन्दु था। जिन निर्देशक सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है, उनके परिपालन में 'प्रताप' के योगदान की विस्तृत चर्चा हो चुकी है। नैतिकता के जिस पावन सर्वोच्च सिंहासन पर विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' को आसीन कर दिया था, आज उसकी कल्पना करना भी कठिन लगता है। इस सिंहासन तक पहुँचाने के लिये उन्होंने संघर्ष का एक ऐसा रास्ता चुना था, जिसका न आदि था, और न अंत। इस मार्ग पर काँटे ही काँटे बिछे हुए थे। विद्यार्थी जी तथा 'प्रताप' का सही मूल्यांकन तभी संभव है, जब उस अग्निपथ, उस बलिपथ पर चलने के कारण 'प्रताप' के संघर्षों की कुछ झलक प्रस्तुत की जाय।

ऐसे संघर्ष पथ पर चलने के लिये काँटों की चुभन ही क्या कम थी? किन्तु इस मार्ग में प्रलोभन तथा भय के बड़े-बड़े विषधर थे। लोभ तथा लाभ की छद्मवेशी अप्सरायें थी, जो बड़े-बड़े संपादक विश्वामित्र को मार्गच्युत करने में निपुण थीं। इन सबके बीच से यात्रा पूरी कर लेना विद्यार्थी जी की तपस्या का ही प्रतिफल था। प्रलोभन भी कैसे थे? लाखों की धनराशि, लौकिक सुखों का अम्बार, क्या नहीं सुलभ था? विद्यार्थी जी के निकट सहयोगी श्री सम्पूर्णानन्द जी का विचार है—"प्रताप के स्तम्भों में देश की आत्मा बोलती थी।...'प्रताप' के लेखों में विद्यार्थी जी का हृदय अवतरित होता था

और उनका हृदय करोड़ों भारतीयों के अरमानों से स्पन्दित था।...मेरे सामने की बात है। एक राज्य के शासन की बड़ी कड़ी भर्त्सना की गई थी। उसकी ओर से रुपये की थैलियाँ दिखाई गयीं, परन्तु विद्यार्थी जी ने अपनी स्वाभाविक नम्रता और दृढ़ता के साथ यह सब अस्वीकार कर दिया।"

उनके दूसरे सहयोगी श्री सुरेन्द्र शर्मा ने भी इस माया जाल की चर्चा की है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है, "अनेक नरेशों ने रिश्वत देकर विद्यार्थी जी को अपने मायाजाल मे फँसाना चाहा, किन्तु वे सचमुच अपने पथ में हिमाचल की भाँति अटल रहकर बड़ी निस्पृहता के साथ सार्वजनिक सेवा में लगे रहे। यदि वे चाहते तो अपनी अँगुली के जरा से इशारे से लाखों की सम्पत्ति इकट्ठी कर लेते, किन्तु सांसारिक प्रलोभनों से विद्यार्थी जी ने सदा अपना दामन छुड़ाया।"

नैतिकता के सर्वोच्च आसन का जहाँ तक प्रसंग है, अनेक घटनायें हार के फूलो की तरह गूँथी हुई आज भी हमारी स्मृति के आकाश को अपने सौरभ मे भर देती हैं। उत्तर प्रदेश की लेजिस्लेटिव कौंसिल में (आज की विधान सभा) कांग्रेस प्रत्याशी के रूप मे उन्होंने ऐतिहासिक चुनाव लड़ा था जिसमें विरोधी प्रत्याशी श्री चुन्नीलाल गर्ग जैसे कानपुर के एक बड़े पूँजीपति को उन्होंने पराजित किया था। इस अवसर पर विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' में एक शब्द भी अपने प्रचार या समर्थन में नहीं छपने दिया। नैतिकता का यह अनुपम उदाहरण था। इतना ही नहीं, चुनाव के सम्बन्ध में कुछ सूचना प्राप्त करने के लिये उनके सहयोगियों ने काशी के 'आज' की एक प्रति खरीदकर, खर्च 'प्रताप' के हिसाब में डाल दिया। विद्यार्थी के समक्ष प्रस्तुत होने पर उन्होंने खर्च का वाउचर फड़वा दिया और निर्देश दिया, "कौंसिल चुनाव का 'प्रताप' से कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई चुनाव सम्बन्धी रकम यहाँ हर्गिज खर्च न की जायेगी।" परतन्त्र देश की नैतिकता की यह कहानी आज स्वाधीन भारत में आँसू बहा कर, दम तोड़ रही है। आज तो 'भारतीय आत्मा' के इन आहत स्वरों की याद आती है—

भुला दीं सूलियाँ जैसे जमाने में,
सभी कुछ तालियों से पा लिया तुमने
न तुम बहले, न युग बहला, भले साथी,
बताओ तो किसे बहला दिया तुमने।

'प्रताप' और विद्यार्थी जी एक दूसरे के पूरक थे। इस दृष्टि से 'प्रताप' का संघर्ष विद्यार्थी जी के जीवन का ही संघर्ष था। इस संघर्ष के मूल में थी देश भक्ति और जनसेवा। कई बार यह स्पष्ट किया जा चुका है कि देश उनके लिये सर्वोपरि था। देश के लिये वे 'प्रताप' को जीवित रखना चाहते थे, देश के लिये ही वे उसे मारना चाहते थे। उन्होंने कई बार अपने सहयोगियों से कहा था—"देश-सेवा के लिये ही 'प्रताप' निकल रहा है। यदि देश को आवश्यकता पड़े तो मैं 'प्रताप' को उसके लिये नष्ट करने के लिये हमेशा तैयार हूँ।" देश प्रेम का दीपक उनके लिये अपने प्राण-दीप से

अधिक प्रिय था। देश प्रेम में उनकी आस्था ऐसी प्रबल शाश्वत एवं अखण्ड थी कि 'प्रताप' के पृष्ठ-पृष्ठ में उसकी वाणी गूंजती थी। ब्रिटिश सरकार का निरंकुश शासन, तत्कालीन देशी राज्यों के सामन्तवादी अधिपतियों का अत्याचार, नौकरशाही के निरन्तर कठोर प्रहार, पूँजीपतियों के षड्यन्त्रकारी प्रभंजन, विदेशी शासन के पिट्ठुओं की कूट-नीतिक तमिसा—इन सब के बीच, देश सेवा के दीपक की लौ की रक्षा करने के एक-निष्ठ व्रत का निर्वाह विद्यार्थी जी जैसे जुझारू एवं समर्पित व्यक्तित्व द्वारा ही हो सकता था। इस व्रत निर्वाह की अनुपम कथा संक्षेप में श्री गोपालसिंह नेपाली की निम्नांकित पंक्तियों में पूरी तरह अभिव्यक्त है—

यह अतीत कल्पना, यह विनीत प्रार्थना,
यह पुनीत भावना, यह अनन्त साधना।
शान्ति हो, अशान्ति हो, युद्ध संधि क्रान्ति हो,
तीर पर कछार पर, यह दिया बुझे नहीं।

'प्रताप' के जन्म से ही, उसे इस देश भक्ति की भावना के लिये दण्ड भोगना पड़ा।

आरम्भिक तीन-चार वर्षों तक, ब्रिटिश सरकार सिर्फ धमकियाँ और चेतावनी देने तक सीमित रही। 'प्रताप' अपने निर्धारित मार्ग पर चलकर राष्ट्रीय जन-जागरण का कार्य करता रहा। ज्यों ही वह "सर पर कफन बाँधे शहीदों की होली का समाचार छाप कर" क्रान्ति बीज बोने के लिये अग्रसर हुआ, त्योंही ब्रिटिश शासन दमन का चक्र चलाने लगा। ऐसा पहला दमन चक्र नवम्बर १६१६ में चलाया गया। भारतीयों को कुली बनाकर विदेशों में भेजने का 'प्रताप' ने विरोध किया। सुदूर देशों में भारतीयों पर होने वाले अगणित अत्याचारों का पर्दाफाश करने के लिये 'प्रताप' ने कुली प्रथा नामक पुस्तिका का प्रकाशन किया। इस पर शासन ने विद्यार्थी जी से एक हजार रुपये की जमानत माँग ली। उस समय के अनुसार इतनी बड़ी धनराशि, हिन्दी के किसी भी पत्र की कमर तोड़ने के लिये काफी थी। इसे बड़ी कठनाई से विद्यार्थी जी ने सह लिया। शिक्षित समाज हिन्दी पत्रों में रुचि नहीं लेता था। साधारण जनता लेती थी पर उसकी क्रयशक्ति गिरी होती थी। इस दृष्टि से हिन्दी पत्रों के ग्राहक बहुत कम होते थे। 'प्रताप' जैसे राष्ट्रीय विचारधारा के पत्रों की सहायता करने वाले बहुत कम लोग होते।

'प्रताप' से जमानत लेने के दो वर्ष के भीतर ही, इसकी जप्ती लेने का मौका आ गया। १० जून १६१८ में 'प्रताप' में राष्ट्रीय काव्य प्रकाशन को लेकर शासन ने एक हजार रुपये जप्त कर लेने की घोषणा की। 'प्रताप' अभी अपने पैरों पर पूरी तरह खड़ा भी नहीं हुआ था। यह आघात कितना कठोर था, इसका अनुमान प्रताप के इस समाचार प्रकाशन की शैली से किया जा सकता है। यह समाचार 'प्रताप' के मुख पृष्ठ पर इस प्रकार प्रकाशित हुआ था—

"प्रेस एक्ट का वार"
"प्रताप की १००० रुपये की जमानत जप्त"

फिर एक कविता इस प्रकार दी गई है—

"धर्म युद्ध में लड़ी लड़ाई आन बान की।
रहे निभाते शान सदा, देशाभिमान को।
सेवा करते रहे, राष्ट्र हिन्दोस्तान की।
रहे आप के बने और कुर्बान जान की।
लगा घाव है अब कठिन, रह रह के होती चमक।
रहा काम अब आपका, मरहम रखिये या नमक।

ध्यान देने की बात यह है कि इस संघर्ष को विद्यार्थी जी ने धर्मयुद्ध की संज्ञा प्रदान की। 'प्रताप' का इतिहास बताता है कि उन्होंने इस संघर्ष को आदि से अन्त तक धर्मयुद्ध के रूप से ही अंगीकार किया। धर्मयुद्ध से उनका आशय स्पष्टतः देश की स्वाधीनता एवं देश प्रेम से था। उनके देश प्रेम की परिधि इतनी व्यापक थी कि उसमे देश की स्वाधीनता, राष्ट्रीय जागरण, जनता जनार्दन की पीड़ा, शोषण की समाप्ति, न्याय एवं सत्य की रक्षा समाविष्ट थी। प्रेमचन्द जी ने साहित्य धर्म की विवेचना करते हुए घोषित किया था "जो दलित हैं, पीड़ित है, शोषित है, उसकी हिमायत करना, वकालत करना साहित्य का धर्म है, फर्ज है।" यह धर्म विद्यार्थी जी के घोषित "धर्मयुद्ध" मे पत्रकारिता के अन्तर्गत सम्मिलित था। यही कारण था कि उन्होंने जमानत माँगने, से लेकर जमानत जप्ती तक, प्रत्येक बार शासन के कदम को निर्भीकतापूर्वक अन्याय घोषित किया था। इस दमन के सन्दर्भ में उन्होने "प्रताप पर वज्रपात" शीर्षक सपादकीय लिखा था। यह शीर्षक अपने आप में संकट की तत्कालीन गंभीरता को प्रकट करता है। उस संपादकीय की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत हैं—

प्रताप पर इस समय संकट की घनघोर घटा छाई हुई है। ६ जून १९१८ को प्रान्तीय सरकार (तत्कालीन संयुक्त प्रान्त सरकार) का एक आज्ञापत्र मिला कि २२ अप्रैल १९१८ के 'प्रताप' में प्रकाशित "हमदम" की सौदाये वतन कविता द्रोहभाव फैलाने वाली है, इसलिये लेफ्टिनेंट गवर्नर एक हजार रुपये की जमानत जप्त करते हैं। ···जिस समय जमानत ली गई थी, हमने कहा था कि हमारे साथ अन्याय हुआ है। आज वह जप्त हो गई, हम अब भी कहते हैं कि हमारे ऊपर अन्याय हुआ है।"

आरम्भ के पाँच वर्षों में ही 'प्रताप' ने, न केवल हिन्दी, वरन् अन्य भारतीय भाषाओं में भी महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया था। इसका पता, इस जमानत जप्ती के प्रकरण में अन्य समाचार पत्रों की प्रकाशित प्रतिक्रियाओं से लगता है—'प्रताप' के समर्थन में लिखने वाले पत्रों में हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी, उर्दू, बंगला, गुजराती, मराठी आदि के प्रमुख पत्र सम्मिलित थे। इनमें अमृत बाजार पत्रिका, न्यू इंडिया, लीडर, कामनवली, यंग, पैट्रियट, भारतबन्धु, अभ्युदय, मर्यादा, बाम्बे क्रानिकल, हिन्द केसरी, आजाद, वेंकटेश्वर समाचार, अवधवासी, नक्खास मुसाफिर, सद्धर्म प्रचारक आदि प्रमुख थे। कुछ पत्रों की प्रतिक्रियायें यहाँ प्रस्तुत हैं। 'एडवोकेट' ने लिखा था—

"···हम हिन्दी जनता से अपील करते हैं कि वे लोग 'प्रताप' के अधिक से

अधिक ग्राहक बनें क्योंकि अनेक बाधाओं के रहते हुये भी देश और प्रान्त की यह निर्भीकता से सेवा कर रहा है।"

'कलकत्ता समाचार' ने साहस दिलाते हुये लिखा था। "देश सेवा का मार्ग कंटकमय है, बड़ी कठिनाईयाँ हैं। पर तो भी यह सत्य है कि "गिरते हैं, शहसवार ही मैदाने जंग में।"

'भारत मित्र' ने लिखा था "इसमें (सौदाये वतन शीर्षक कविता) कोई ऐसी बात नहीं, जिस पर आपत्ति की जा सकती है।…जमानत जप्त कर लेना उसी भेड़िये का हाल है, जो एक न एक बहाना करके मेमने को निगल गया था।"

इस जमानत जप्ती प्रकरण के सन्दर्भ में, विद्यार्थी जी की नैतिकता का पुनः स्मरण करना पड़ता है। अनेक पाठकों तथा हितैषियों की ओर से इस अवसर पर 'प्रताप' की सहायता के लिये पत्र और प्रस्ताव विद्यार्थी जी के पास आये थे, किन्तु उन्होने किसी को भी स्वीकार नही किया। इसके मूल में उनका यह विचार था कि 'प्रताप' कुछ व्यक्तियों के (श्री शिवनारायण मिश्र, श्री जवाहरलाल रोहतगी) स्वामित्व में था। इस प्रकार उसके लिये सार्वजनिक सहायता के प्रस्तावों का कोई औचित्य नहीं है।

विद्यार्थी जी ने दो वर्ष पूर्व, चंपारन (बिहार) के किसानों पर नील के गोदाम अंग्रेज मालिकों के अत्याचारों की कहानियाँ निरन्तर तीन अंकों में प्रकाशित की थी। भारतीय राजनीति में महात्मा गाँधी का चंपारन सत्याग्रह ऐतिहासिक है। इस सत्याग्रह की सर्वाधिक महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि विद्यार्थी जी ने ही 'प्रताप' के माध्यम से प्रस्तुत की थी। चंपारन सम्बन्धी लेखमाला को लेकर ब्रिटिश सरकार ने उन्हें कड़ी चेतावनी दी। इसके बाद भी, उन्होंने चंपारन सम्बन्धी समाचारों का प्रकाशन बन्द नहीं किया। अन्ततः कानपुर के तत्कालीन मजिस्ट्रेट ने स्वयं विद्यार्थी जी को बुलाकर समझाया और चेतावनी दी। इन सबका क्या परिणाम निकला, यह विद्यार्थी जी के ही शब्दों में प्रस्तुत है—

"चंपारन के इन लेखों को सरकार ने आपत्तिजनक समझा है, परन्तु यह आवश्यक बात नहीं है कि सरकार जिस बात को बुरा समझे उसे हम भी बुरा समझें।…जिस अन्याय को दूर करने में हमारा बल कुछ भी लग सकता है, उसके मुकाबिले में हम मुंह मोड़ना "अक्षम्य पाप" मानते हैं। ये रुकावटें हमें अपने पथ से रत्तीभर भी विचलित न कर सकेंगी।"

'प्रताप' को लेकर विद्यार्थी जी जिस संघर्ष पथ पर चल रहे थे, वह अत्यन्त भयावह और संकटपूर्ण था। नित्य नये प्रकार की आपत्तियाँ, चुनौतियाँ उनके सामने आतीं। पूंजी की कमी, आर्थिक चोट, मानहानि के मुकदमें, सार्वजनिक कार्यों की अतिशय व्यस्तता तथा राजनीतिक संघर्ष की सक्रियता उन सबका विपुल भार उठाते हुये, उनकी मनोदशा पीड़ा और करुणा से भर जाती किन्तु आस्था और आशा का, देश प्रेम तथा जनसेवा का उनका संकल्प एक रूप बना रहा। वह जिस मिट्टी मे से (यू० पी०) उत्पन्न हुये थे जिस मिट्टी के परिवेश में (बुन्देलखण्ड मुँगावली) पोषित

गये थे, वह निष्ठा, सहनशीलता तथा शौर्य-वीर्य की मिट्टी थी। श्री शिवमंगल सिंह सुमन ने शायद ऐसी ही मिट्टी की कल्पना इन पंक्तियों में की है—

उनचास मेघ, उनचास पवन
अम्बर अवनी कर देते सम।
वर्षा थमती, आँधी रुकती।
मिट्टी हँसती रहती हरदम।

हँसने वाली यह मिट्टी विरले नरपुंगवा की काया से लिपटती है तथा उनकी आत्मा में मुस्कान बन कर कालजयी बन जाती है। इसी कविता की निम्नांकित दो पंक्तियाँ विद्यार्थी जी क जयघोष को रूपायित करती हैं—

कोयल उड़ जाती पर उसका,
निश्वास अमर हो जाता है।
मिट्टी गल जाती पर उसका
विश्वास अमर हो जाता है।

इस स्थिति में संघर्षशील विद्यार्थी जी की जिस मनोदशा का हमने संकेत किया है उसका निरूपण इस अमर शहीद की लेखनी ने स्वयं किया था। ८ जुलाई १९१८ के 'प्रताप' में उन्होंने बड़ा मार्मिक किन्तु प्रेरक चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया था—

"हमने अपनी छोटी नाव को तूफानी लहरों की टक्करों से पाश-पाश हो जाने का स्वप्न अनेक बार देखा है। वह बड़ी ही साधारण भूमि थी, जिस पर 'प्रताप' का बीजारोपण किया था। कुछ मित्रों ने जिनके पास धन नहीं था परन्तु जिनके हृदय मे उत्साह की यथेष्ट मात्रा थी अनेक संकटों से संग्राम करते हुए १९१३ की देवोत्थान एकादशी को 'प्रताप' को जन्म दिया। आरम्भ बिल्कुल मामूली था। बाहर वालों की उँगलियाँ उठती थीं, समय और परिश्रम को देखते हुए उनका यह कहना बेजा भी नहीं था कि यह जोश एक छोटा-सा उबाल है। इस समय आया है, थोड़े दिनों बाद ठण्डा पड़ जायगा। परन्तु काम करने वाले धुन के पक्के थे। अपने हँसे जाने पर उन्होंने हँस दिया। अपने हतोत्साह किये जाने पर हृदय में निराशा नहीं आने दी। उपेक्षा और कहीं-कहीं तिरस्कार और निन्दा की लम्बी जिह्वा ने उन पर चोट की परन्तु वे अटल रहे। छोटा सा छोटा काम उन्होंने अपने हाथों से किया। दिन को दिन रात को रात नहीं समझा।···उदासीनता, कठिनाई, विपत्ति, परेशानी निराशा क्या नहीं थी जो 'प्रताप' के इस छोटे से जीवन में उसके संचालकों को नहीं झेलनी पड़ी। इन सबकी वर्षा में काम हुआ। परन्तु उन अवसरों पर भी चाहे चिन्ता की छाप चेहरों पर लगी हो और हृदय की मसोस से बेताबी बढ़ी हो परन्तु स्थान छोड़ने की इच्छा तक मन में नहीं लाई गई।···अन्त में परीक्षा मार्ग के काँटे हट गये और मुसीबतों को झेलने वालों को अच्छे दिन दिखाई पड़े। जो अपमान करते थे, उन्होंने मान का हाथ बढ़ाया, जो दूर भागते थे, वे निकट आये, 'प्रताप' के इतिहास का यही सार है।"

इन पंक्तियों के प्रत्येक भाव में विद्यार्थी जी की संघर्ष मूलक वृत्ति की झलक

वे स्वयं घोषित करते है—"स्थान छोड़ना तो दूर उसकी इच्छा तक मन में नहीं है।" संघर्ष का यह स्वरूप सभी दृष्टियों से कंटकमय था—सामाजिक, वैयक्तिक तथा थिक। उन्हें अपने मान-अपमान, लाभ-हानि की लेशमात्र चिन्ता नहीं थी। उनकी नी कहानी, मानो उन्हें बार-बार कबीर की दी गई ऐतिहासिक चुनौती का स्मरण राया करती थी—

कबिरा खड़ा बजार में
लियो लुकाठी हाथ।
जो घर जालै आपनो
चले हमारे साथ॥

कबीर ने जो चुनौती दी थी, विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' के संचालन में उसे प्रत्येक में पूरा किया। उन्होंने "घर फूंककर" सत्य, न्याय और देश के लिए बलिदान ने वालों की एक लम्बी पंक्ति तैयार कर दी, जो वाणी, लेखनी, काया और आत्मा, क साधन से सर्वस्व समर्पण में अग्रणी रही। उनका स्वयं का समर्पण अमरता का ाजयी छन्द तथा मानवता का विश्वघोष है। सम्पादक विद्यार्थी जी की यह कथा अमरता का काव्य छन्द है। श्री भवानी प्रसाद मिश्र की निम्नांकित पंक्तियाँ व्य) ऐसे ही व्यक्तित्व के पूजा गीत का गुंजार हैं—

क्षण-क्षण पल-पल खुद को देना, यह जीवन का अर्थ है।
जितना अधिक दे रहा जो, उतना अधिक समर्थ है।
जो जितना देता है, उतना ज्यादा जीता है वह।
वर्षा मेघ न बरसे तो फिर, भरा हुआ भी रीता है वह।

विद्यार्थी जी की जिस संघर्ष कथा का उल्लेख किया गया है, उसकी कुछ झलक । के शब्दों में इस प्रकार है—

"परन्तु वे (संचालक) अब भी उसी प्रकार गरीब हैं, जिस प्रकार वे उस दिन जिस दिन 'प्रताप' का जन्म हुआ था। धन की मार उनके लिए एक बड़ी मार है। जब हमारे ऊपर संकट पड़े तब हमने उनको दृढ़ता के साथ झेलने का प्रयत्न अवश्य । परन्तु पहले से कभी हमने आह्वान नहीं किया।...बेशक हमने लड़ाई छेड़ी किन्तु स्थलों पर, जहाँ हमने अन्याय के तूफान का जोर देखा। न्याय और सत्य हमारे नक्षत्र रहे हैं।...अनेकों बार हमें ऐसे अवसर प्राप्त हुए हैं जबकि 'प्रताप' के हितै-ों ने हमें धन की मदद देनी चाही परन्तु हमने अपनी शक्ति रहते भर बाहरी मदद स्वीकार न किया।" (प्रताप, ८ जुलाई १९१८)

इस तरह स्पष्ट है कि 'प्रताप' के संघर्ष में आर्थिक पक्ष सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। ार्थी जी स्वयं सब कष्ट उठा सकते थे, भूख, प्यास, बन्दीगृह की एकान्त पीड़ा तु 'प्रताप' के लिए शासन का आर्थिक प्रहार अस्तित्व का संकट पैदा कर देता । इस संकट में भी उन्होंने जनता की सहायता लेना तभी उचित समझा, जब ' के स्वामित्व को उन्होंने सार्वजनिक स्वामित्व घोषित कर दिया। सन् १९१९

में उन्होंने कानूनी रूप से सार्वजनिक घोषणा द्वारा एक ट्रस्ट बना दिया, जिसका पंजीयन विधिवत् १८ मार्च १९१९ को कर दिया गया। ट्रस्टियों में निम्नांकित ट्रस्टी रखे गये।

(१) श्री मैथिलीशरण गुप्त (चिरगाँव झाँसी)
(२) डॉ० जवाहरलाल जी रोहतगी
(३) श्री फूलचन्द जी
(४) श्री शिव नारायण मिश्र
(५) स्वयं विद्यार्थी जी।

इसमें प्रथम को छोड़कर शेष सभी सज्जन कानपुर के थे। इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय तथ्य यह है कि ट्रस्ट बनाते समय 'प्रताप' इस स्थिति में पहुँच गया था कि प्रति सप्ताह उसकी बिक्री सात हजार प्रतियों तक पहुँच गई थी। नाम-मात्र की पूँजी से संचालित 'प्रताप' की वित्तीय हैसियत इस समय २१००० रुपये की हो गई थी। विद्यार्थी जी ने उसे जनसेवा के लिए सौंप दिया क्योंकि जनसेवा ही उनके जीवन का मूल मंत्र था। इसे सौंपते हुए उन्होंने मानो फिर कबीर की इन पंक्तियों को साकार कर दिया—

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागे है मेरा।

ट्रस्ट बनाने के पूर्व, 'प्रताप' के सहायतार्थ विद्यार्थी जी ने कभी सहायता के लिए इच्छा तक नहीं प्रकट की। जमानत जब्ती के बाद जब 'प्रताप' पुनः प्रकाशित हुआ तब उन्होंने स्वयं इस बात की पुष्टि की।

"अनेकों बार हमें ऐसे अवसर प्राप्त हुए हैं जब कि 'प्रताप' के हितैषियों ने हमें धन से मदद देनी चाही परन्तु हमने अपनी शक्ति रहते बाहरी मदद लेना स्वीकार न किया। अब जबकि हम 'प्रताप' और 'प्रताप' से साम्पत्तिक नाता तोड़ने का निश्चय कर चुके हैं, तब 'प्रताप' के लिए बाहरी सहायता माँगने में हमें कोई संकोच नहीं।"

(प्रताप, ८ जुलाई १९१८)

इस समय तक 'प्रताप' कितना लोकप्रिय तथा जन समर्थित हो गया था, इसका परिचय विद्यार्थी जी लिखित निम्नांकित टिप्पणी से मिलता है—

"प्रताप की विपत्ति के समाचार ने हिन्दी संसार में खलबली मचा दी। हमारे सहयोगियों ने हमारा पूरा साथ दिया। उन्होंने से कठिन समय पर 'प्रताप' का हाथ गहने और उसे विपत्ति की खाई से उबारने में, जिस सहृदयता और उदारता से काम लिया, हम इसके लिए आजन्म ऋणी रहेंगे।...हमको नई जमानत केवल एक हजार रुपये ही की देनी पड़ी। परन्तु यदि कहीं अधिक से अधिक बड़ी रकम भी माँगी जाती, जो दस हजार रुपये होती तो भी हम अपने बल पर नहीं किन्तु 'प्रताप' के हितैषियों के बल पर कहते हैं कि वह सहज ही में 'प्रताप' के जीवित रखने के लिए दी जा सकती। हितैषियों की इस सहानुभूति ने 'प्रताप' संचालक को बेदाम का दास बना दिया है।

उसके पास शब्द नहीं कि वे उनके इस प्रेम-भाव के लिए अपनी कृतज्ञता प्रकट कर सकें। हृदय में कृतज्ञता के भाव उमड़ कर आते हैं परन्तु हृदय एक ऐसी वस्तु नहीं जो चीर कर दिखाया जा सके।'' (प्रताप, ८ जुलाई १९१८)

उनका संपादकीय संघर्ष-पथ बच्चन जी के शब्दों में 'अग्निपथ' ही था। देश के किसी भी भू-भाग में अन्याय होने का समाचार पाते ही वे चिन्तातुर हो जाते। वे ऐसे समाचारों को छाप कर ही संतोष नहीं करते। कभी-कभी ऐसे स्थानों पर अपना विशेष प्रतिनिधि भेजकर सारा वृत्तान्त मँगाते। सम्बन्धित स्थान की पीड़ित जनता को संगठित होकर अन्याय के विरुद्ध संघर्ष के लिए तैयार करते। इसके लिए उन्हे प्रायः भारी कीमत चुकानी पड़ती। ऐसी कितनी ही घटनाओ का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें उन्हें शारीरिक, आर्थिक, मानसिक सभी प्रकार के कष्ट उठाने पड़े। चंपारन के गोरों की चर्चा की जा चुकी है। अलवर का अग्निकाण्ड, मैनपुरी का अत्याचार, रायबरेली का गोलीकाण्ड, इन सबके पीछे सम्पादक विद्यार्थी जी को कष्ट ही कष्ट उठाने पड़े। इन सबके विस्तृत विवरण से अवगत होने पर लगता है, प्रसाद जी की निम्नांकित पंक्तियाँ, विद्यार्थी जी के इसी जीवन की कहानी कहती हैं—

नवम्बर १९२६ में मैनपुरी जिले के एक थानेदार ने एक गाँव के ऊपर बहुत अत्याचार किया। गाँव वालों ने सारी घटना लिख विद्यार्थी जी के पास भेज दी। विद्यार्थी जी ने घटना की पुष्टि करके 'प्रताप' में सब कुछ विस्तार से छाप कर भर्त्सना की। अधिकारियों की ओर से सम्पादक को कई बार धमकियाँ दी गईं और अन्त में मुकदमा चला दिया गया। इसकी कहानी तथा सम्पादक विद्यार्थी जी का दृढ़ निश्चय उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत है—

''....४१ गवाह, अच्छे से अच्छे गवाह पेश किये गये। तीन माह की परेशानी सही गई। अभी तक दो हजार रुपये खर्च हुए। 'प्रताप' गरीब पत्र है। कहीं से ले-देकर काम चलाना पड़ा। तब भी यदि यही नतीजा है, जो सामने है, तो हर तरफ से अंधेरों को देखते रहने की अपेक्षा हम इसे अच्छा समझते हैं कि 'प्रताप' बन्द हो जाय। हम दुनिया-भर के अंधेरों को ठीक करने के लिए ठेकेदार नहीं हैं, किन्तु हमारी ताकत के भीतर जो बात है, हम जो कुछ कर सकते हैं, यदि हम उसी को न करें, तो हमारे बने रहने और लोगों को केवल भले-बुरे समाचारों को सुनाते रहने का कोई हक नहीं है।''

इसी प्रकार सन् १९२१ में रायबरेली में किसानों पर गोलीकाण्ड हुआ। यह ऐसा क्रूर तथा अमानुषिक गोलीकाण्ड था जिसने पं० जवाहरलाल नेहरू को रायबरेली तथा प्रतापगढ़ जिलों के किसानों के बीच कार्य करने के लिए प्रेरित किया था। विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' के विशेष प्रतिनिधि को भेजकर सारा विवरण प्राप्त किया तथा विस्तार से प्रकाशित किया। उन्होंने प्रशासन की निन्दा करते हुए सम्पादकीय लिखा। गोली चलाने वालों में प्रमुख सरदार वीरपालसिंह नामक एक थानेदार था। वह जिला अधिकारियों का विशेष प्रिय भी था। 'प्रताप' में इस क्रूर अत्याचारी व्यक्ति का

विशेष उल्लेख किया गया था। उच्चाधिकारियों की शह पाकर, वीरपालसिंह ने विद्यार्थी जी को एक कानूनी नोटिस दिया, तथा 'इंडिपेंडेंट' नामक अंग्रेजी पत्र से शिक्षा लेने की बात कही। 'इंडिपेंडेंट' ने ऐसे ही एक प्रकरण में क्षमा माँग ली थी। 'प्रताप' सम्पादक ने निम्नांकित पंक्तियों में वीरोचित उत्तर दिया—"आप ने जिस क्षमा माँगने की सलाह दी है, उसके लिए धन्यवाद। 'इंडिपेंडेंट' की गति से शिक्षा लेने के लिए कहने के हेतु कृतज्ञ, पर हमने ऐसा कोई काम नहीं किया कि पश्चाताप हो। हमारे लिए ऐसा कोई अवसर नहीं कि हम आपकी सलाह से लाभ उठावें।"

(प्रताप, २५ जनवरी १९२१)

विद्यार्थी जी ने उस दंभी अधिकारी को अलग से एक पत्र लिखकर सूचित किया कि वह अदालत की शरण में जा सकता है। "अन्याय के आगे झुकना 'प्रताप' सम्पादक ने कभी जाना ही नहीं।" 'देश' के भूतपूर्व सम्पादक तथा विद्यार्थी जी के सहयोगी श्री बटुकदेव शर्मा ने आज से ४० वर्ष पूर्व विद्यार्थी जी के सम्बन्ध में कितना सटीक लिखा था—

"देश सेवा की दृष्टि से मैंने भाई गणेश शंकर विद्यार्थी को एक पत्र लिखा कि यदि मेरी सेवाएँ स्वीकार हों तो निम्नलिखित संकेत आप 'प्रताप' में छाप दें।"

मु० ज० की प्रार्थना स्वीकार है।

सन् १९१७ के जून या जुलाई के 'प्रताप' में ये पंक्तियाँ आज भी देखी जा सकती हैं। निर्भीक विद्यार्थी जी ने बिना किसी असमंजस के उपर्युक्त संकेत 'प्रताप' के दो अंकों मे ज्यों का त्यों प्रकाशित कर दिया। किन्तु गवर्नमेन्ट के पालतू देश द्रोहियों ने रिपोर्ट करके खैरख्वाही की। कानपुर के अंग्रेज कलेक्टर ने कड़ाई के साथ विद्यार्थी जी से जवाब तलब किया। शेर दिल विद्यार्थी जी ने स्पष्ट शब्दों में ऐतिहासिक उत्तर दिया —"पहले आपको मनुष्य बनना चाहिये, तब अंग्रेज या कुछ और'''अगर इंगलैण्ड पर जर्मनी या फ्रांस का कब्जा होता और आप मेरी ही तरह किसी अखबार के सम्पादक होवे तो अपने देश भक्तों के लिए क्या करते ?"

ऊपर के कुछ उदाहरणों से सम्पादक विद्यार्थी जी के "अग्निपथ" का चित्र स्पष्ट हो जाता है। इस पर चलने के लिए ही तो पत्र का नामकरण 'प्रताप' किया गया था। 'प्रताप' के प्रथम अंक में विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' के ऐतिहासिक आदर्श के प्रति भाव विभोर होकर लिखा था। "हाँ! हम भारतीय निर्बल आत्माओं के पास है ही क्या जिससे हम तेरी पूजा करें और तेरे नाम की पवित्रता का अनुभव करें ? एक भारतीय युवक आँखों में आँसू भरे हुए नेत्रों सहित, अपने हृदय को दबाता हुआ, लज्जा के साथ तेरी कीर्ति गा नहीं, रो नहीं कह भर लेने के सिवा कर ही क्या सकता है ?"

किन्तु विद्यार्थी जी के कार्यकाल के 'प्रताप' अखबार ने सिद्ध कर दिया कि उस अपूर्व आदर्श के प्रति, लज्जा के साथ नहीं, गौरव के साथ श्रद्धांजलि प्रकट करने के पूर्ण अधिकारी थे। 'प्रताप' के उत्तम आदर्श निर्वाह के लिए उन्होंने अपने को होम कर दिया। इस अप्रतिम बलिदान बीज का ही संघर्ष वृक्ष बन गया 'प्रताप'। राष्ट्र

कवि पं० सोहनलाल द्विवेदी ने अपनी ऐतिहासिक रचना में महाराणा प्रताप के प्रति जिन भाव पुष्पों को महामना मालवीय जी के सामने एक दिन हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में अर्पित किया था वे सभी पुष्प मानों विद्यार्थी जी के 'प्रताप' वृक्ष में खिल उठे थे—

"मेरे प्रताप तुम फूट पड़ो
मेरे आँसू की धारों से।
मेरे प्रताप तुम गूँज उठो
मेरी संतप्त पुकारों से।
मेरे प्रताप तुम बिखर पड़ो
मेरे उत्पीड़न नारों से।
मेरे प्रताप तुम निखर पड़ो
मेरे बलि के उपहारों से।"

'प्रताप' के इस संघर्ष पथ के अपराजेय यात्री विद्यार्थी जी अंततोगत्वा स्वयं ही मंजिल भी बन गये। ऐसे लोगों के लिए शायर इकबाल ने कितना सच कहा था—

"ढूंढ़ता फिरता हूँ मैं, ऐ इकबाल अपने आपको—
आप ही गोया मुसाफिर आप ही मंजिल हूँ मैं।"

इस मंजिल और इस मुसाफिर दोनों की मोहक तस्वीर, उत्तर प्रदेश के विकट अननेता तथा आगरा के सुप्रसिद्ध 'सैनिक' पत्र के संस्थापक स्वर्गीय श्री कृष्णदत्त पालीवाल ने इस प्रकार खींची थी।"…निस्सन्देह वह लड़ाई का पक्षपाती था। जबसे उसने होश सँभाला, तभी से उसने जीवन की कठिनाईयों से लड़ाई छेड़ दी।…जब उसने देखा कि तरह-तरह की सत्तायें मिलकर मनुष्यता को पीस रही हैं, उसके दिल में आग लग गई।…सत्ताधारी काँपने लगे। उन्होंने अपने प्रहार शुरू किये।…उसने इन सब प्रहारों को खुशी से सहा।…सार्वजनिक कामों में वह इतना धनी था कि जिधर नजर उठाता उधर ही रुपयों की वर्षा होने लगती। लेकिन अपने लिये वह इतना गरीब है कि आज खाकर कल की चिन्ता है। उसके पिता को दिल और दिमाग की दिन रात चौबीसों घण्टे सख्त परेशानी करने वाली बीमारी है। उसकी पत्नी को बहुधा घोर कष्टमय दौरे हुआ करते हैं लेकिन वह इतना गरीब है कि इनका इलाज नहीं करा सकता।"

आगे की पंक्तियों का चित्र बहुत ही करुण तथा दर्दीला है—

"वह स्वयं ही अस्वस्थ और निर्बल है। लेकिन उसके पास इतने पैसे नहीं कि वह काफी मिकदार में पोषक और हितकर खाद्य पदार्थ खा सके। उसके पास इतना किराया नहीं कि वह अपने रुग्ण और पीड़ित परिवार को ऐसे मकान में रख सके जिससे उन्हें काफी प्रकाश और काफी हवा मिल सके।…इस समय उसके पिता को चौबीसों घण्टे रोते ही जाते हैं। उनके बचने की कोई आशा नहीं…लेकिन वह लड़ाई का पक्षपाती था। इन सब बातों को अच्छी तरह जानते हुए, खूब समझ-बूझकर उसने

बलिवेदी की ओर अपना पैर बढ़ाया था। वह स्वयं इतना निर्बल है कि उसके मित्रों को इस बात में सन्देह है कि वह सपरिश्रम कारागार से कष्टों को झेलकर बच सकेगा कि नहीं ? लेकिन वह लड़ाई का पक्षपाती है। जब तक उसके दम में दम रहेगी, वह अपनी लड़ाई जारी रखेगा।" (प्रताप, २६ मार्च, १९२३)

श्री पालीवाल जी के इस अंश का अन्तिम कथन भविष्य की कितनी सटीक व्याख्या थी। जीवन की अन्तिम साँस तक विद्यार्थी जी ने योद्धा का कर्तव्य पालन किया। इस कर्तव्य पालन में सम्पादक योद्धा की संघर्षशीलता ही नहीं, अपने को तिल-तिल मिटा कर सृजन करने की अनूठी शक्ति थी। संपादक के रूप में उनके आकलन के तीन निर्णायक बिन्दु हैं, नैतिकता का उत्तुंग शिखर, निर्भीकता का जयनिनाद तथा राष्ट्रीयता का निरन्तर विदग्ध बड़वानल। पत्रकारिता के क्षेत्र में उन्होंने नैतिकता को सदैव सर्वोच्च स्थान दिया। प्रलोभन की माया, अर्थ का प्रपंच, यश की लिप्सा, पद की मृगतृष्णा उन्हें कभी पथविरत नहीं कर सकी। "वरदान माँगूँगा नहीं पर हार मानूँगा नहीं" के वे अप्रतिम गायक थे। अपनी देश सेवा के कारण उन्हें तत्कालीन सरकारी अधिकारियों का भी सम्मान एवं विश्वास प्राप्त था। इनके द्वारा उन्हें कभी-कभी बड़े-बड़े महत्वपूर्ण समाचार तथा सूचनायें प्राप्त हो जाती थी। इनके प्रकाशित करने से पत्र की ख्याति में निश्चित वृद्धि होती। कुछ ऐसी भी सामग्री उन्हें सहज प्राप्त होती रहती जिससे उन्हें आर्थिक उपलब्धि होती, किन्तु कभी भी उन्होंने विश्वास सूत्रों का अनुचित लाभ नहीं उठाया। राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त से उन्होंने एक बार कहा था, "हम ऐसी-ऐसी बातें जानते हैं कि चाहें तो किसी भी पत्र को ग्राहकों की कमी न रहे परन्तु कर नहीं सकते। सनसनीदार अखबारों से ही बहुत लोग अपना उल्लू सीधा कर लेते हैं। इन अदालती खबरों का मूलोद्देश्य भी आज कल प्रायः यही है। इन खबरों में अधिकतर गन्दे मुकदमों की बातें ही रहती हैं, जो हमारे लिये सहज नहीं हैं।"

उनकी निर्भीकता के कितने ही प्रसंगों का उल्लेख किया जा चुका है। इस सतत् निर्भीकता के मूल में उनकी स्थिर बुद्धि थी। 'प्रताप' के समक्ष, नित्य ही संकट था। इन संकटों में स्थिर बुद्धि का व्यक्ति ही निर्भीक होकर कार्यनिष्ठ हो सकता था। सम्पादक विद्यार्थी जी की निर्भीकता तथा स्थिर बुद्धि का प्रेरणा स्रोत योगिराज श्री कृष्ण का निम्नांकित उपदेश था—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठता॥

(जैसे कछुवा अपने सभी अंगों को समेट लेता है, वैसे ही स्थिर बुद्धि वाला व्यक्ति सभी आपत्तियों से अपने को समेट लेता है।) सम्पादक विद्यार्थी जी सभी दृष्टियों से निरासक्त रहकर ही 'प्रताप' की गौरव रक्षा कर सके। श्री वृन्दावनलाल वर्मा के शब्दों में—"निर्भीकता तो मानों विद्यार्थी जी के कण-कण में निहित थी।"

'प्रताप' का जन्म ही देश प्रेम एवं राष्ट्रीयता की अति वृद्धि के

था। 'प्रताप' मात्र एक समाचार-पत्र ही नहीं, एक संस्था या यों कहें कि एक "आन्दोलन" था। उस जमाने के उत्तर प्रदेश में शायद ही कोई ऐसा आन्दोलन हुआ हो जिससे 'प्रताप' का सम्बन्ध न जुड़ा हो। यहाँ स्वर्गीय श्री सम्पूर्णानन्द जी के इस कथन का उल्लेख आवश्यक है—"प्रताप के स्तंभों में देश की आत्मा बोलती थी। उन दिनों प्रताप कार्यालय और विद्यार्थी जी का कमरा महत्त्वपूर्ण राजनीतिक केन्द्र था। इस बात को शायद कम लोग जानते होंगे कि इसी दफ्तर में बैठकर श्री प्रकाश और मैंने स्वाधीनता की घोषणा का अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद किया जो २६ जनवरी को सारे देश में पहली बार पढ़ा गया।"

कलम की आवाज

प्रत्येक पत्र का अपना वैचारिक पक्ष, चिन्तन दृष्टि तथा जीवन दर्शन होता है। संपादकीय अभिव्यक्ति वैचारिकता का प्रवेश द्वार एवं वातायन है। इन संपादकीय लेखों में जन-जीवन की सम्पूर्ण झलक होती है। वर्तमान की उषा इसमें मुस्कराती है, भविष्य का दोपहर इसमें तपता है, अतीत की संध्या इसमें आरती उतारती है। युगीन इतिहास इसमें जन्म लेता है, राष्ट्र की मुख्य जीवनधारा इसमें बहती है तथा अनेक अनदेखी संभावनायें इसमें विश्वास एवं आस्था का बीज बोती हैं। सामान्य जनता के प्राण की हर धड़कन इसी रचना में सही सुनाई पड़ती है। व्यक्ति तथा समाज, जन-पद से लेकर राष्ट्र तक की समस्यायें, प्रश्नों का महत्त्वपूर्ण विचार मंच सम्पादकीय ही होता है। संक्षेप में, सम्पादकीय लेख, प्रत्येक समाचार-पत्र की आत्मा है। इस दृष्टि से सम्पादकीय लेखों का ऐतिहासिक महत्त्व होता है। इन लेखों की रचना का पूर्ण दायित्व पत्र-सम्पादक का होता है।

सम्पादकीय लेखो के साथ, विविधता, लघुता तथा सामयिकता की दृष्टि से टिप्पणियों का पृथक महत्व होता है। जहाँ अग्रलेख गहन चिन्तन, वैचारिक विश्लेषण एवं विशिष्ट विषयों की सामग्री प्रस्तुत करते हैं, वहाँ टिप्पणियाँ सामयिक विषयों पर व्यग्य-विनोद के साथ सामान्य पाठकों के लिये आकर्षण बिन्दु बनती हैं। टिप्पणियो में ऐसे विषयों पर लिखा जाता है जिनका सम्बन्ध जन साधारण की दैनिक गतिविधियों तथा घटनाओं से होता है। अग्रलेखों में, भाव तथा विचारोत्तेजन की पृष्ठभूमि अधिक सशक्त होती है। शैली की दृष्टि से उनमें साहित्यिक सौन्दर्य की अधिक मात्रा होती है। टिप्पणियों में स्थायी चिन्तन की अपेक्षा ध्यानाकर्षण की हलकी-फुलकी फुलझड़ियाँ होती हैं।

विद्यार्थी जी सम्पादकीय लेख तथा टिप्पणी दोनों के लिखने में सिद्धहस्त थे। वास्तविकता तो यह है कि उनके सम्पादकीय लेखों में एक संवेदनशील कवि हृदय, झाँकता हुआ दिखाई पड़ता है। अन्तर की अकुलाहट, भाव उर्मियों की रसाद्रता, कल्पना के इन्द्रधनुषी रंग, विचारों की ऊष्मा तथा संवेदनशील तरंगों के घात-प्रतिघात विद्यार्थी जी के सम्पादकीय लेखों में प्रचुरता से मिलते हैं। यद्यपि उनमें से अधिकांश का विषय, तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं से सम्बन्धित है (स्वभावतः तत्कालीन

राजनीति राष्ट्र सेवा का पर्याय थी) तथापि उन सभी में भावात्मक अभिव्यक्ति एवं संवेदनशील हृदय की तड़प सुनाई पड़ती है। इन रचनाओं में पाठकों के हृदय में सीधे प्रवेश कर आन्दोलित करने की अनूठी प्रभावशीलता है। इनके भावात्मक पक्ष को छोड़कर यदि विचार किया जाय तो इनमें विद्यार्थी जी की वैचारिक दूरदर्शिता, स्पष्टता, उग्रता सर्वत्र उपलब्ध है। इन विशेषताओं के मूल में विद्यार्थी जी की आत्मानुभूति तथा सत्य अभिव्यक्ति थी। वे केवल एक विद्वान् सम्पादक मात्र नहीं थे। वे इससे भी अधिक राष्ट्रसेवी एवं जन नेता थे। परिणामस्वरूप, उनकी अनुभूति देश के करोड़ों हृदयों की अनुभूति, उनकी अभिव्यक्ति कोटि-कोटि कंठों की गुंजार थी।

लगभग सत्रह वर्षों तक विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' में सम्पादकीय लिखा। इन विपुल रचनाओं में विविध विषयों का आकलन है। राजनीति, समाज-सेवा, शिक्षा, संस्कृति, साहित्य, स्वास्थ्य, विज्ञान, धर्म, अध्यात्म, राष्ट्रीय गतिविधियों से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं तक पर उनके स्पष्ट, सन्तुलित विचार प्रकट हैं। इनमें केवल विचार विश्लेषण, तर्क एवं कल्पना ही नहीं, वरन् इनमें मौलिक चिन्तन, निजत्व की छाप, परामर्श, प्रासंगिक सुझावों के सोपान तथा युगीन प्रश्नों के सटीक उत्तर भी हैं। इन्हें पढ़कर विद्यार्थी जी की विस्तृत विचार शक्ति, व्यापक दृष्टिकोण, सन्तुलित प्रज्ञा, तथा दूरदर्शिता का पाठक पर स्थायी प्रभाव पड़ता है।

उनके सम्पादकीय लेखों में जहाँ इन तत्वों का समावेश है, वहाँ उनकी टिप्पणियों में तीव्र उग्रता, निर्णयात्मक वृत्ति, तथा व्यंग्य-विनोदमयी शैली में पाठक को सोचने के लिये विवश करने की चमत्कारिक क्षमता भी है। भारतीय इतिहास मे १९१७ का वह जमाना था, जब इंगलैण्ड की उदारता और सदाशयता पर, महात्मा गांधी जैसे दूरदर्शी नेता भी विश्वास करते थे। उस समय लिखी गई विद्यार्थी जी की, दो टिप्पणियों के अंश यहाँ प्रस्तुत हैं, जिनमें उनकी स्पष्टता तथा दूरदर्शिता परिलक्षित है—

"स्वाधीनता और स्वतन्त्रता की प्राप्ति भी तो कोई दिल्लगी नहीं है। प्रस्तावो के पास करने से स्वराज्य नहीं मिलेगा···इंगलैण्ड उदार है तो अपने लिये और अपनो के से लिये।···दूसरों की उदारता और न्यायप्रियता पर बहुत अधिक विश्वास रखने के स्थान पर अपने पर विश्वास रखना चाहिये।"

(प्रताप, २५ जून १९१७)

इसी तरह मि० मांटेग्यू चेम्सफोर्ड की ऐतिहासिक घोषणा होने पर उन्होने लिखा था।

"···साथ ही हमें इसमें कोई आशाजनक बात भी नहीं दिखाई पड़ती। पार्लियामेंट की यह घोषणा महारानी विक्टोरिया की सन् १८५८ की घोषणा से अधिक मूल्यवान नहीं है। जब उसके अनुसार काम नहीं हुआ, तब इस पर हर्ष के मारे फूल जाना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? भारतीय दिमाग अपने इस निरालेपन में संसार में एक ही है। सिर पर जूते पड़ते जा रहे हों, जूती की मार के निशान मिटे न हों, कि कहीं से सुन

पड़न वाली मोठी बात से वह दद दम भर मे काफूर हो जाय और मन खुशी के मारे मोर की तरह नाचने लगे कहीं कहीं से यह प्रस्ताव होने लगा है कि स्वराज्य आन्दोलन अब शिथिल पड़ जाना चाहिये। सरकार को कदापि यह आशा न करनी चाहिये कि उनके (श्रीमती एनी बेसेंट) छोड़ दिये जाने पर हम अपना काम छोड़ देंगे। सरकार यदि मिसेज एनी बेसेंट को छोड़ देगी तो अपने एक अन्याय को छोड़ेगी। हमारे ऊपर कोई एहसान न करेगी।"   (प्रताप, २७ अगस्त १९१३)

विद्यार्थी जी की दूरदर्शिता, स्पष्ट वैचारिक अभिव्यक्ति तथा दृढ़ आशावादिता की स्पष्ट झलक, तार्किक एवं प्रभावशाली शैली में, निम्नांकित टिप्पणी में अधिक मुखर है। यह टिप्पणी, राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रबल झंझावात में, हिन्दू-मुस्लिम दंगों के सम्बन्ध में लिखी गई थी।

"....परन्तु निराश होने की तनिक आवश्यकता नहीं। जो कुछ हो रहा है, उसका होना आवश्यक था। विष भरा हुआ है, उसका फूट-पड़ना अनिवार्य था। हमारा विश्वास है कि इन घटनाओं की तह में आशा की उज्ज्वल रेखा है। इस प्रकार की प्रत्येक घटना जिसकी भयंकरता से हृदय काँप उठे, जिसकी कटुता भावी संतति के कलेजे छेदने वाली कही जा सके, आशा और शुभ भविष्य का सन्देश सुनाती है। देश में स्वाधीनता का जन्म हो रहा है। यह उसकी प्रसव वेदना है। स्वाधीनता का कोई अर्थ ही नहीं, यदि एक समुदाय को दूसरे से दबना पड़े और देश का कोई भी अंश अविकसित, कायरता और अज्ञान में डूबा रहे।...हिन्दुओं की कायरता दूर होगी, उनके अन्दर प्राणों का मोह कम होगा। ऊँची बातों के लिये मरना-जीना सीखेंगे।... मुसलमानों की उद्दंडता दूर होगी। साधारण से साधारण समुदाय के अधिकारों का उन्हें लिहाज करना होगा। शंख और घड़ियाल इस समय उनके कानों के पर्दे फाड़ते हैं। आगे उन्हें शंख और घड़ियाल उसी प्रकार शान्ति से सुनने होंगे, जैसे कि मोहर्रम के ढोल और ताशे को सुनते हैं। अजान के साथ संध्या हो सकेगी। अरब, अदन, टर्की और काबुल के जो तराने हिन्दुस्तानी मुसलमान गाते हैं, उन्हें छोड़कर इस देश की महिमा के गीत गाने होंगे। अकबर और शेरशाह, प्रताप, शिवाजी जैसे हमारे महान् पुरुष हैं, वैसे ही मुसलमानों को भी मानने पड़ेंगे।"

(प्रताप, २० अक्टूबर १९२४)

विद्यार्थी जी में जनहित में अपने विचारों को प्रखरता तथा स्पष्टता के साथ प्रकट करने का एक अनूठा गुण था। राजनीतिक प्रहार, सामाजिक अवहेलना, आर्थिक क्षति, अथवा सरकारी भय—इन सबसे पूरी तरह मुक्त होकर (आज स्वतन्त्र भारत मे इस तरह भयमुक्त होकर विचार व्यक्त करना कठिन लगता है) विद्यार्थी जी की कलम चलती थी। युक्त प्रान्तीय (उ० प्र०) कांग्रेस अध्यक्ष के नाते विद्यार्थी जी कांग्रेस नीति के पक्षधर अवश्य थे, किन्तु सम्पादक के नाते वे लेखन में अपने को स्वतन्त्र मानते थे। उस समय कांग्रेस की नीति अप्रत्यक्ष रूप में मुस्लिम सम्प्रदाय के प्रति तुष्टीकरण की थी। यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत है, जिसमें उन्होंने इस नीति का सशक्त विरोध

किया था। इस टिप्पणी के निम्नांकित अंश में भारतीय राजनीति के दूरगामी परिणामों की ओर स्पष्ट संकेत हैं—"जो लोग धर्म के नाम पर दूसरों की आजादी में तनिक भी बाधा पहुँचाने का साहस करते हैं, जो लोग देश के शुभ निश्चयों और भावनाओं की रक्षा करने में प्राणों के मोह से कायरता का प्रदर्शन करते हैं, जो लोग देश की ममता छोड़कर पराये देशों से नाता जोड़कर देश की हानि पहुँचाने का अपराध करते हैं वे सब देश के शत्रुओं की श्रेणी में गिने जायेंगे। उन्हें देश कदापि क्षमा नहीं करेगा। देश की संतति उन्हें पतित, त्याज्य और समय-समय पर दयनीय समझेगी।"

विद्यार्थी जी के सम्पादकीय लेखों को भाषा शैली तथा विषय प्रतिपादन की दृष्टि से दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। एक प्रकार की रचनायें भावात्मक परिवेश में हैं, दूसरे प्रकार की विचारात्मक तथा वर्णनात्मक कलेवर में। उनके भावात्मक अग्रलेखों में भावनाओं को वर्षा मन्द गति किन्तु निरन्तरता के साथ होती चलती है। भावों की लड़ियाँ एक के बाद एक, अपना काव्यात्मक सौन्दर्य, अनुभूतियों की तरलता तथा ओज की विद्युत गर्जना से सारे प्रसंग को अविस्मरणीय बना देती हैं। इस प्रभावशीलता में उनकी चित्रात्मक शैली तथा भाषा समरसता की अपनी अलग ही छटा होती है। उनके सहयोगी श्री दशरथप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "गणेश जी के लिखने की अपनी एक खास शैली थी। इस शैली के वे ही प्रवर्तक थे। बहुत से युवकों ने इस शैली को अपनाने और अनुकरण करने की कोशिश की। लेकिन किसी को आशातीत सफलता नहीं मिली। गणेश जी के लेखों में वजन होता था। गूढ़ से गूढ़ तत्वों को व्यक्त करने में वह बहुत कुशल थे। उनकी भाषा में प्रवाह होता था, उपयुक्त शब्दों को रखने का उनका एक निराला ढंग था। उनके लेखों की एक-एक लाइन से ओजस्विता और राष्ट्रीयता टपकती थी।"

उनके भावात्मक सम्पादकीय लेखों में शैली और भाषा का ऐसा एकात्मक स्वरूप है कि वे सहज ही अपनी पहचान अलग कर देते हैं। भाव चाहे जितने गूढ़ हों, उनकी अभिव्यक्ति को सहज बनाना विद्यार्थी जी की लेखन शैली का प्रधान गुण है। इसके लिये उनकी शैली भावनाओं के गहरे तल में डूबकर विभिन्न भाव-मोतियों को लाकर किनारे पर रख देती है। भाषा की सरलता, शब्द चयन की उपयुक्तता, वाक्य रचना की लघुता, तथा काव्यात्मक उपमायें, इन भाव-मोतियों में "आब" डाल देती हैं। भावना और शैली का यह "धूप-छाँही" रंग, कभी-कभी पूरे लेख में रहता है और कभी-कभी लेख के मार्मिक अंशों में। भावना की कोमलता एवं शैली का "ओज" एक ही प्रसंग में अनुभव कराने की उनमें अनूठी क्षमता है। "संग्राम का आरम्भ" शीर्षक एक लेख का मध्य अंश यहाँ उद्धृत है—

"गाँधी सीधे-सादे हैं, वे सरलता, शक्ति और निर्दोषता की मूर्ति हैं। वे भीषण अग्नि के लिये शीतल जल हैं। वे घनघोर घटा के लिये बलवान वायु हैं। जहाँ वे हों, वहाँ उपद्रव न रहे, और जहाँ उपद्रव हो, वहाँ उनका पहुँचना शान्ति के राज्य का

पहुँचना है । उनकी निर्विकारिता उनकी निर्भीकता उतनी ही असंदिग्ध है जितना कि उनका अस्तित्व । इसलिये देश के छोटे छोटे आदमियों मत कष्ट दो अपनी बुद्धि को, उनके अगम रहस्यों के समझने के लिये ।"

इस भावनापूर्ण अभिव्यंजना के साथ पाठक को आकृष्ट करके, वे शीघ्र ही प्रतिपाद्य विषय (देश की पराधीनता) को पूरी तरह स्पष्ट करते हैं और लेख समाप्त करते-करते वे पुनः अपने भावना लोक में पहुँचकर काव्यात्मक रंग की प्रभावी वर्षा करते हैं । इससे रससिक्त होकर पाठक आत्म चिन्तन के लिये विवश हो जाता है ।

"यह अन्याय है इस देश और उसके करोड़ों बच्चों के प्रति । स्वेच्छाचार का यह प्रसार रोका जायेगा । हम पर प्रहार होगा पर हमारे हाथ प्रहार न करेंगे ।... कहा जायेगा श्वासों द्वारा चींटियाँ पहाड़ों के उड़ाने का विधान कर रही हैं परन्तु सत्याग्रह की आत्मा घोषणा करेगी कि इन श्वासों में बल है, पहाड़ हिल जायेंगे, वे चींटियों को कुचल डालने के लिये आगे बढ़ेंगे, छोटी चींटियाँ तो एक कोने में दबी-दबाई पड़ी होंगी, उनका बाल बांका न होगा, पहाड़ों हो का अपने ही आकार और बल वेग के कारण नुकसान होगा ।"

यहाँ रेखांकित अंशों में ब्रिटिश शासन की निरंकुश सत्ता तथा महात्मा गाँधी के सत्याग्रह शक्ति के प्रतीक रूप में पहाड़ तथा चींटियों की कल्पना से विषय की स्पष्टता तथा उसका अर्थबोध कैसा सुलभ हो गया है । इसी रचना का अन्तिम अंश भाषा के काव्यात्मक रंग एवं लालित्य की दृष्टि से कैसा व्यंजनामूलक हो गया है—

"विजय की देवी क्षितिज की लालिमा के अन्तरतर से हमारे प्रांगण पर अपनी अलौकिक दृष्टि दौड़ा रही है । आज से पहले वह ऐसे असंख्यों वीर पुरुषों और नारियों को देख चुकी है, जो स्वाधीनता के मन्दिर तक पहुँचने के लिये उसके चरणों में अपने शरीर के रक्त की अंजलि अर्पण कर चुके हैं । वह भारतवर्ष की पुण्य भूमि में एक ऐसी नई वाटिका का प्रादुर्भाव देखना चाहती है, रक्त की अंजलि के बजाय जिसके नव कुसुमित पुष्प माता के चरणों पर पड़े और जिनकी मधुर सुगंध और शीतल प्रभाव उष्ण आकांक्षाओं से चंचल और तप्त प्रहारों से व्यथित प्राणी के लिए शान्ति का शुभ सन्देश दें । देवी देख रही है कि इस अपूर्व यज्ञ की पूर्ति के लिए, भारतवर्ष का नाम अमर करने और उसकी स्वाधीनता का सूर्य उगाने के लिए उसके कितने वीर पुत्र और कितनी वीर पुत्रियाँ अपना सर्वस्व लेकर आगे बढ़ती हैं ।"

(प्रताप, १४ अप्रैल १९१९)

उनके भावात्मक सम्पादकीय लेखों में सर्वाधिक उल्लेखनीय तत्व है, ओजस्विता । भावों का जो तेजस्वी रूप इन रचनाओं में है, वह प्रभातकालीन अरुणिमा के समान पाठक के अन्तर मंडल को प्रभाव से अनुरंजित कर देता है । इस तेजस्विता में, भावों का आवेग, शब्द, शब्द से प्रकट होने वाली ओजपूर्ण तरंगें, भाषा की प्रवाहशीलता तथा शैली की जीवन्तता समाहित रहती है । अतिशय ओजस्विता और प्रखरता उनकी लेखन शैली को कभी-कभी वक्तृता शैली में बदल देती है । सफल वक्ता को जैसे प्रसंगा-

नुसार भावों के उतार-चढ़ाव, ध्वनि के आरोह, अवरोह का कुशल अभ्यास रहता है, वैसे ही विद्यार्थी जी को ऐसे लेखन में दक्षता प्राप्त है। उनके सम्पादकीय लेखन का ऐसा ही एक अंश प्रस्तुत है—

"देश की आत्मा अक्षुण्ण, अभेद्य और अजेय है। दिन बीतते हैं, वर्ष टल जाते हैं, परन्तु देश की आत्मा अविचल, निर्विकार और अमर है। प्रबल आक्रमणों के प्रहार, अत्याचारियों और विजेताओं के क्रूरतम अत्याचार और इतिहास प्रसिद्ध कठोर से कठोर शासकों की कठोरता देश की आत्मा नाश करने में सदैव निष्फल रही है। परन्तु देश की आत्मा की हुँकार मात्र से बड़े-बड़े साम्राज्यों की केवल कहानी शेष रह जाती है। संसार के इतिहास का अधिकतर भाग उन विफलताओं का संग्रह मात्र है, जो अजेय शासकों को समय-समय पर भिन्न देशों की आत्मा को शान्त करने में मिली। देश की आत्मा की स्वातन्त्र्य-पिपासा स्वतन्त्रता से ही बुझ सकती है और किसी से नहीं, फिर चाहे वह अमृत ही क्यों न हो।" (प्रताप, १ जून १९१९)

इस प्रकार भावनाओं के उत्कर्ष, चित्रात्मकता तथा ओजस्विता इन तीन तत्त्वों से, विद्यार्थी जी की भावात्मक सम्पादकीय शैली की भलीभाँति पहचान हो जाती है। 'प्रताप' के आरम्भिक वर्षों के अधिकांश सम्पादकीय इसी शैली में लिखे गये हैं। अध्ययन करने पर पता चलता है कि सन् १९१३ से लेकर १९२० तक इस शैली का उन्होंने अधिक प्रयोग किया है। बाद में, किसी विशेष प्रयोजन, अवसर अथवा पत्र के विशेषांक निकलने पर ही ऐसे सम्पादकीय लिखे गये हैं। इन रचनाओं में छोटी वाक्य रचना, भावपूर्ण किन्तु सरल भाषा में पूरे लेख मिलते हैं। लेख के अन्य अंशों में विषय को विस्तृत करके उनकी विचार विमर्श पद्धति चलती रहती है। इसके माध्यम से उनका विश्लेषण विषय से सम्बन्धित सभी पक्षों का उद्घाटन करने में समर्थ रहता है। १६ नवम्बर १९१३ को उन्होंने "कर्मवीर गांधी" शीर्षक सम्पादकीय लिखा था। इस अंश में उपर्युक्त सभी बातों का समावेश है। सम्पादकीय का आरम्भ भावात्मक शैली में इस प्रकार किया गया है—

"संग्राम, घोर संग्राम। न्याय और अन्याय का, मनुष्य के सर्वोच्च भावों और उसके सबसे नीचे भावों का। पशुता मनुष्यता के मुकाबले में है। एक ओर विकराल शक्ति, दूसरी ओर सौम्य शक्ति, एक ओर पशुबल और दूसरी ओर दृढ़ता।...मोहिनी मूर्ति और संसार मोह गया। विकट जाल- मोह गये, फँस गये और सो गये।"

इसके पश्चात् गांधी जी के अफ्रीका का प्रवास तथा वहाँ के भारतीयों की दुर्दशा का खाका खींच कर फिर उसी भावात्मक शैली का अनुसरण किया गया है, जिसमें काव्यात्मक शैली तथा ओजस्विता का सम्मिश्रण है, जैसे—"बीसवीं शताब्दी के इस घोर संग्राम की छटा देखोगे ? भयंकर रूप, पूरा बल, अथाह वेग। सामना करना अति कठिन। संसार के मजबूत से मजबूत हाथ ढीले हैं। फौलाद है जो नहीं कटता, हवा है जो नहीं दबती, जल है जो नहीं पकड़ा जाता। इंगलैण्ड की लम्बी भुजायें शिथिल हैं।"

इसी रचना में गांधी जी के कृतित्व का एक-एक लघु चित्र जिस शैली में प्रस्तुत किया गया है, वह जन सामान्य के बहुत अनुकूल है। एक ऐसा ही चित्र प्रस्तुत है—"भीषण बोअर युद्ध। गोलियाँ चल रही हैं। तोपें गोलें उगल रही हैं। लाशें गिर रही हैं। और रण क्षेत्र में ये कौन हैं? सैनिक नहीं, सादे भेष वाले। एक हजार आदमी। गोरे भी नहीं और अफ्रीका के काले भी नहीं। ये हैं गांधी के साथी। देखो, वे घायलों को रणक्षेत्र से उठाते फिरते हैं, उनके घावों को धोते हैं और उनकी सेवा सुश्रुषा करते हैं। गोलियाँ बरस रही हैं और इनको जान की परवाह नहीं। सेनापति लार्ड राबर्ट्स का इकलौता पुत्र रणक्षेत्र की गोली का शिकार होता है और वह देखो, गांधी के काले साथी उसके गोरे शरीर को गोलियों के मेह से उठाकर ला रहे हैं।"

इसी शैली में गांधी जी के जीवन के विविध चित्र पाठकों के सामने उपस्थित हैं। चित्र माला की समाप्ति एक बार पुनः काव्यात्मक शैली और ओजस्वी, प्रवाहमयी भाषा के प्रयोग के साथ होती है। इस रचना का मूल सन्देश अलंकारिता में लिपटा हुआ, तेजस्विता का प्रभाव पाठक पर पूरी तरह डालकर प्रयोजन सिद्ध बन जाता है। ऐसी ही कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत हैं—

"पहरेदारों का अत्याचार और अधिकारियों का स्वेच्छाचार। लेकिन न चन्द्र की ज्योति घटी और न तारों ही की। चन्द्र के तेज के सामने राहु के छक्के छूट गये। हजारों नक्षत्रों में से शायद ही किसी ने टूटने का नाम लिया हो।...पत्तियाँ हरी हैं और जड़ उन्हें पानी पहुँचाती है। तारे चमकते हैं और सूर्य से उन्हें प्रकाश मिलता है। अफ्रीका की मरुभूमि में अमृत-वर्षा हुई और वर्षा की इन्द्र गांधी ने।...गांधी जेल में। घोर तपस्या और इस तपस्या, इस महायज्ञ से भारतीय महाजाति के निर्माण का महा-काम हो रहा है।...जब तक हमारे हृदय में भाव है और भावों में आगे बढ़ने का बल, जब तक हमें अपनी मातृभूमि का ज्ञान है और हमारी मातृभूमि में हमें उत्साहित करने की शक्ति, जब तक हमारे नेत्र संसार की ओर हैं और संसार में आगे बढ़ने के लिए रास्ते, तब तक हम कदापि पीछे नहीं देखेंगे, पीछे कदम नहीं रखेंगे और पीछे नहीं मुड़ेंगे।"

उनके दूसरी कोटि के सम्पादकीय लेख विचार-विमर्श, व्याख्यात्मक तथा तार्किक शैली में लिखे गये हैं। इनका विषय क्षेत्र बहुत व्यापक तथा इनकी संख्या विपुल है। इनमें देश की दैनिक सामयिक समस्याओं से लेकर नगरीय, जनपदीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर सम्पादक के विचार, अपनी गहराई, विद्वता, विषय विज्ञता तथा तार्किकता की छाप डालते हैं। साधारण विषय को प्रभावशाली बना देना तथा गूढ़ विषय को अध्यापकीय पद्धति से प्रस्तुत करके सुगम बना देना, इन लेखों की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इनमें भावनाओं का उद्दाम वेग नहीं, विचारों का सन्तुलित प्रवाह है। विचार विश्लेषण कभी-कभी उपदेश पद्धति तथा ज्ञान प्रदर्शन से पाठक के लिए नीरस एवं अरुचिकर बन जाता है। विद्यार्थी जी के ऐसे लेख अपने तीव्र व्यंग्य, उदाहरणों की रोचकता तथा हास-परिहास की प्रवृत्ति से सरस एवं आकर्षक बन गये हैं। मुहावरों

के समुचित प्रयोग, प्रसंग निर्वाह की कुशलता ऐसी सभी रचनाओं में सुलभ उनकी गम्भीर चिन्तनकला, विचार पंखुड़ियों की विविधता दर्शाती हैं, किन्तु प्रत्येक रचना अपने निर्णयात्मक बिन्दु को मौलिक रूप में उपस्थित करती है। यह मौलिकता प्रचारात्मक न होकर अन्तर्भेदिनी दृष्टि से पाठक को अपने पक्ष में करने का प्रयास करती है। ऐसे लेखों में भी विषय चाहे सामाजिक हो, अथवा राजनीतिक, लोक नीति से सम्बन्धित हो अथवा सरकारी क्रियाकलाप से, विद्यार्थी जी के ओजस्वी, आशावादी कर्मनिष्ठ व्यक्तित्व की झलक अवश्य मिलती है। यहाँ तीन पृथक-पृथक विषयों से सम्बन्धित उनके लेखों के कुछ अंश प्रस्तुत हैं, जिनसे उपर्युक्त तथ्यों की पुष्टि होती है। १८ मार्च १९१४ को उन्होंने "जातीय होली" शीर्षक लेख लिखा था जिसका आरम्भिक अंश इस प्रकार है—

"जी खोलकर हँसना, बोलना और खुशी मनाना उन्हीं लोगों का काम है जिनके शरीर भले और मन चंगे हों। लेकिन जिनके ऊपर विपत्ति और पतन की घनघोर घटा छाई हो, जिसका घर और बाहर सभी कहीं अपमान हो रहा हो उनका हँसना, बोलना और खुशी मनाना पागलपन सा है। हमारे सामने होली उपस्थित है। वह रूढ़ि और समाज के नाम पर हमसे अपील करती है कि जी भर हँसो और जी भर खुशी मनाओ। लेकिन उसी के मुकाबले हमारे सामने, देश और जाति की भयंकर दुर्दशा, उसकी उन्नति की जड़ पर कुठार चलाने वाली शक्तियाँ, झूठी बातों पर गर्व, स्वार्थ, फूट, कापुरुषता, अपने विकट हास्य से हमारे सारे हौसलों को पस्त कर रही है।"

इसका अंतिम अंश विचारोत्तेजन एवं ओजस्विता की दृष्टि से उल्लेखनीय है —"होली की हँसी-ठठोली जातीय जीवन के चिह्न उस समय तक कदापि नहीं कहे जा सकते, जब तक कि उनके वेग में बहने वाले प्राणी मनुष्य के औसत भावों के अधिकारी नहीं बन सकते, जब तक वे अपनी स्थिति को नहीं समझते और उसके समझने पर हृदय में जल उठने वाली अग्नि की शान्ति का उपाय नहीं करते। हमारी वर्तमान होली रूढ़ि की होली है। उसमें स्वयं जीवन नहीं। काल चक्र उसके अस्तित्व को मिटाने के लिए बढ़ रहा है। वह मिटेगी और फिर जन्म लेगी। सच्चे प्रेम से करोड़ों बिछुड़े हुए प्राणियों को मानव अधिकारों का अधिकारी बनाने के लिए।"

"प्रान्तिक कान्फ्रेंस" शीर्षक लेख में विद्यार्थी जी ने, एक ओर तत्कालीन राजनीतिक स्थिति की निष्क्रियता का सजीव चित्र खींचा है, दूसरी ओर व्यंग्यात्मक शैली, तथा पूरी स्पष्टता के साथ भाषा सम्बन्धी एक गम्भीर प्रश्न उठाकर, भविष्य द्रष्टा होने का प्रमाण उपस्थित किया है। विद्यार्थी जी ने जो सुझाव इस लेख में दिया था कालान्तर में उसे देश को स्वीकार करना पड़ा है। लेख का आरम्भिक अंश इस प्रकार है—

"जिस तरह देश भर के राजनैतिक प्रश्नों पर विचार करने लिए कान्फ्रेंस हर साल देश में हुआ करती है उसी भाँति प्रान्त की राजनैतिक बातों पर विचार करने के

लिए देश के कई प्रान्तो में प्रान्तिक कान्फ्रेंस हुआ करती है, लेकिन इस धूम की उम्र तो तीन दिन से अधिक नहीं होती। एक पापी प्राणी की तरह इस धूम को बार-बार हर साल जन्म लेना और दो तीन दिन के बाद ठंडा हो जाना पड़ता है। दिमाग से प्रस्ताव पर प्रस्ताव ढूंढ़कर निकाले जाते है, उन पर धुंआधार स्पीचें होती हैं, तालियों के ताल से उनका सम्मान होता है। फिर उनको कागज पर लिखा और सरकार के पास भेज देने का प्रबन्ध कर, देश हितैषी, मान फलां और मि फलां घर पहुँचते और चादर तान साल भर की गहरी नींद लेते हैं।···यदि प्रान्तिक कान्फ्रेंसों के संचालकों की नियत है कि कुछ काम हो और लोग कुछ जागें, तो उन्हें पहले अपनी मीठी नींद छोड़नी चाहिए। कुंभकर्णी नींद से भला नहीं हो सकता।''

इस लेख का अंतिम अंश, निर्णायक बिन्दु, भाषा की सहजता तथा विचारों की ओजस्विता से विशेष रूप से उल्लेखनीय है—

''एक बात यहाँ पर और कहनी है। हमारे योग्य राजनीतिज्ञों ने अपनी योग्यता की बदौलत अपने पैरों पर कुल्हाड़ी चलाई है। आप लोग बसते तो इस देश मे हैं, अन्न जल यहीं का खाते हैं और बातें भी यहीं की करते हैं लेकिन बोलेंगे, लिखेंगे, पढेंगे उस भाषा में जो सात समुद्र पार की है और जिसे मुश्किल से देश के मुट्ठी-भर आदमी समझ सकते हैं। यह कोई बहाना नहीं है कि शासक देशी भाषा नहीं जानते। शासक देशी भाषा जानेंगे। उन्हें उसे जानना पड़ेगा, लेकिन पहले इस योग्य भी तो बन लो कि तुम्हारी बात कोई सुने।···हमारा अटल विश्वास है और दिन आवेगा कि वे लोग भी इस विश्वास को ग्रहण करेंगे जो आज उससे घृणा करते हैं। जब इन सभाओं की कार्रवाई देशी भाषा में होने लगेगी, तब प्रान्तिक कान्फ्रेंस का मंडप प्रतिनिधियों से खाली न रहेगा। जिस दिन कस्बे और बड़े गाँवों से एक-एक प्रतिनिधि भी प्रान्तिक कान्फ्रेंस में बैठा दिखाई पड़ेगा, वह दिन देश के राजनीतिज्ञों के लिए बड़े ही गर्व का होगा।''

ऐसे सम्पादकीय लेखों की वक्तृता शैली के गुणों की चर्चा पूर्व में की गई है। वस्तुत: इस शैली का उपयोग विद्यार्थी जी ने प्राय: किसी राष्ट्रीय घटना, राजनीतिक उत्तेजना, संकटपूर्ण स्थिति के विश्लेषण के सम्बन्ध में किया है। इसके प्रयोग द्वारा उन्होंने ऐसी रचनाओं को अधिक मार्मिक, संवेदनशील तथा ओजस्वी बना दिया है। इनकी भाषा अत्यन्त सुगम एवं बोलचाल की है किन्तु समूची रचनाओं में भाव अभिव्यक्ति अपनी चिरपरिचित स्पष्टता, उग्रता तथा हृदयस्पर्शिता के साथ सफल है। शायद इस सफलता के दो बड़े कारण हैं। एक तो भाव-अभिव्यक्ति में लेखक की ईमानदारी तथा दूसरी प्रयुक्त भाषा का लचीलापन। पं० मदन मोहन मालवीय द्वारा संचालित साप्ताहिक पत्र 'अभ्युदय' (प्रयाग) की राष्ट्रीय नीति से क्रुद्ध होकर ब्रिटिश शासन ने ढाई हजार रुपये की जमानत माँगी थी। इस घटना पर विद्यार्थी जी ने ९ अगस्त १९१५ को 'प्रताप' में एक अग्रलेख लिखा था, ''अभ्युदय पर विपत्ति।'' इस लेख के ये अंश यहाँ उद्धृत हैं जिनमें वक्तृता शैली की स्पष्ट ध्वनि है—

"इसके अर्थ हैं कि 'अभ्युदय' बन्द हो जायगा। इसके अर्थ हैं कि हिन्दी साहित्य क्षेत्र का एक बड़ा ही उपयोगी खण्ड विध्वंस हो जायगा और हिन्दी संसार के माथे पर एक टीका लग जायगा, किसी यश का नहीं, कृतघ्नता और कलंक का। इसके अर्थ हैं कि उच्च भावों और नवीन जीवन का एक स्रोत बन्द हो जायगा और उसको चुपचाप बन्द होते देखने पर निश्चेष्ट बैठे रहने वालों पर कोई शाप नहीं लगेगा परन्तु उसी क्षण से, अकर्मण्यता की उसी घड़ी से, उनके हृदय पर एक छाप लग जायगी—नपुंसकता की और निर्जीवता की, क्रूरता और मूर्खता की। हम हिन्दी संसार से पूछते हैं कि वह ऐसे अवसर पर क्या करना चाहता है?

पाठकों, तुमसे हमारी एक प्रार्थना है और यह प्रार्थना है विशेष कर उन पाठकों से, जो युवक हैं, जिनके हृदय किसी तुषार की मार से मर नहीं गये, जो देश से प्रेम और उसका सम्मान करना जानते हैं। प्रिय युवक, यदि 'अभ्युदय' का अन्त हो गया तो याद रखो, उसकी मृत्यु का कलंक तुम्हारे ही सिर पर रहेगा। तुम—तुम जो राष्ट्रीयता का दम भरते हो, उच्च और महान् भविष्य का स्वप्न देखने वाले, अपने भावों के लिए तुम उतनी सच्चाई, प्रेम त्याग भी न प्रकट कर सको। आह? यदि तुम ऐसे हो तो तुम पर देश गर्व नहीं कर सकता।"

उनके सम्पादकीय चाहे हर्ष के क्षण में लिखे गये हों चाहे शोक की बेला में, उत्थान की जय-जय कार में लिखे गये हों, चाहे पतन की पराजित व्याख्या के साथ उनमें पाठकों के लिए अभिनव आशा, अपराजेय आस्था तथा सत्य, न्याय, कर्म की त्रिधारा का कलकल निनाद अवश्य रहता है। यह निनाद मन्द हो सकता है किन्तु निरन्तरता की प्राण संजीवनी उसमें अवश्य रहती है। यह संजीवनी, विषय के महत्त्व, प्रतिपादन शैली, प्रसंग की महत्ता पर कभी निर्भर नहीं करती। वह तो प्रत्येक के लिए प्रत्येक रचना में सुलभ रहती है। हमारे विचार में यह अप्रतिम उपलब्धि है जो विद्यार्थी जी के लिए शायद ईश्वरीय देन थी। देश के दो राष्ट्र सेवियों—महापुरुष गोपालकृष्ण गोखले और लोकमान्य गंगाधर तिलक के निधन पर उन्होंने जो सम्पाद-कीय लिखा था, उसमें शोक की पीड़ा—पीड़ा की संचाई एवं सच्चाई की प्रेरक शक्ति एक साथ मिलती है। श्री गोखले सम्बन्धी कुछ अंश इस प्रकार है—

"अथाह है वह शोक, जो मातृभूमि के इस सपूत के वियोग के कारण आज हृदयों में ज्वार-भाटा बन रहा है। देश के झोपड़ों से लेकर राजमहलों तक सभी से एक ठंडी आह निकली है और सहानुभूति का स्रोत बह उठा है।...अपनी आभा और सुगंध के बल से दूर-दूर के भ्रमरों से भी अपना आकर्षण मनवा लेने वाला पुष्प देवी के पवित्र चरणों में पड़कर पवित्रता की उस सिद्धि को प्राप्त कर चुका था, जो देवताओं के बाटे में नहीं पड़ी है, जिस पर किसी भेद-विभेद की छाप नहीं लगी है, जिसके लेने के लिए सब कुछ देना पड़ता है।"

आगे चलकर इस प्रभावशाली भावनापूर्ण शैली का स्वरूप परिवर्तन होता है। वह वर्णनात्मक रूप में होने पर भी अपनी प्रभावशीलता नहीं छोड़ पाती। जैसे—

"युवक गोखले, यदि चाहते तो देश के प्रतिभाशाली युवकों की भाँति वकील बनते। उनके कदमों के नीचे रुपया बिछता, पर १८ वर्ष के बी० ए० पास गोखले के हृदय में मातृभूमि की सेवा के भाव की जबरदस्त लहर जोर मार रही थी और इसीलिए हम देखते हैं कि वे पूना के फर्ग्युसन कालेज में केवल ७० रु० पर बीस वर्ष तक प्रोफेसर बनने का कठिन व्रत धारण करते हैं। सर्विस कमीशन में उन्हें १५,००० रुपये साल की रकम मिलती परन्तु कौंसिल की मेम्बरी छोड़ने पर, इसलिये उन्होंने इसके लेने से इन्कार कर दिया।"

लेख का अंतिम अंश, मार्मिकता तथा प्रेरणा की दृष्टि से उल्लेखनीय है :—

"देश की एक बड़ी आत्मा अन्तर्धान हो गई। सूर्य के तेज का मूल्य उस समय तक कुछ नहीं, जब तक सूर्य हमारे सिर पर है, पर हम स्वार्थी आदमी उस समय सूर्य के लिए हाथ पसारते हैं, जब वह अपने हाथ समेट कर अस्त हो जाता है।...देश भर में भारतीय राष्ट्रीयता की देवी का पुजारी ढूंढ़ा जायेगा। समय की उँगली वर्षों इधर-उधर घूमती फिरेगी और उसे अपनी इच्छित वस्तु न मिलेगी।...तलाश में हमारे नेत्र घूमेंगे, गोखले को खोजेंगे और गोखले का सा खोजेंगे पर सब व्यर्थ है।"

ऐसा ही दूसरा सम्पादकीय विद्यार्थी जी ने लोकमान्य तिलक के निधन पर ८ अगस्त, १९२० को 'प्रताप' में लिखा था। इस लेख का आरम्भ भावनात्मक, मध्य वर्णनात्मक तथा अन्त प्रेरक एवं ओजस्वी है। लेख का आरम्भ इस प्रकार है :—

"विगत शनिवार की रात्रि देश के लिये एक अत्यन्त भयंकर रात्रि थी। घटना न थी, परन्तु देश के असंख्य हृदयों पर बिजली गिर पड़ी। आँधी न थी परन्तु उद्यान का वह पुष्प टूट पड़ा, जिसके सौरभ से चारों दिशायें व्याप्त थीं और जिसका विछोह कलेजे को टूट-टूट किये डालता है।...जब आँधियाँ चलती थीं और अँधेरी निशा ने देश भर पर अपनी काली चादर डाल रखी थी...विदेशीय सत्ता के कारण जिस समय अपने और अपनेपन का विचार स्वप्न सम हो गया था, तब ह्रास और विनाश के उस वायुमंडल का भेदन करती हुई एक आत्मा, कर्मण्यता की एक मूर्ति उदय हुई जिसने मुरदा देश के सामने संजीवन संदेश उपस्थित किया।" मध्य का अंश वर्णनात्मक शैली में इस प्रकार है :—

"वे भारतवर्ष की आधुनिक राष्ट्रीयता के जन्मदाता थे। वे उसके पोषक थे, उसके रक्षक थे। देश ने तिलक को सिर आँखों पर बैठाया। उसे मानों अपना खोया हुआ अधिनायक मिला। अपढ़, कुपढ़ लोगों तक के लिये तिलक का नाम मोहन मंत्र था। जिस समय उन्हें ६ वर्ष की कैद हुई, बम्बई भर के मजदूर बिगड़ उठे। इससे उस अधिकार की थाह मिलती है जो तिलक को लोगों के हृदयों तक पर प्राप्त था।"

इस रचना का अन्त उसी मार्मिक शैली में प्रेरक सन्देश के साथ कैसा हुआ है, यह अन्तिम अंश से स्पष्ट है—

"उनकी महत्ता और उनकी आवश्यकता देश भर को खून के आँसू रुला रही है। लोग रोवेंगे और बहुत दिनों तक रोवेंगे परन्तु शोकाश्रु की अंजली अपने इस

देवता के चरणों में बहुत अच्छी भेंट नहीं। हमारे देवता के जीवन की घटनायें आँसू बहाने का सन्देश नहीं देतीं। जिन अवसरों पर नेत्रों का धर्म था कि आँसू गिराते, उन पर भी उन्होंने प्लेग के आरम्भ के दिनों में २० वर्ष के युवा पुत्र की दाह क्रिया करके श्मशान से लौटते ही, बिना कुछ विचलित हुए 'केसरी' का अग्रलेख लिखा जो आत्मा इञ्च-इञ्च रागे से उसी प्रकार लड़ी हो, जिस प्रकार अन्याय और अत्याचार से उसका तर्पण आँसुओं से नहीं, हृदयों की भेंट से होना चाहिये। स्मारक बनेंगे।...परन्तु इन स्मारकों से भी बढ़कर होगा वह काम कि देश के युवक और युवतियाँ तिलक के पद चिह्नों पर चलने का व्रत धारण करें, वे धन कमाने की लालसा छोड़ें...माता के उद्धार का सन्देश उसी दृढ़ता और निर्भीकता के साथ पहुँचावें, जैसा कि तिलक ने पहुँचाया।"

विद्यार्थी जी के सम्पादकीय लेखों के जिन स्वरूपों का अभी तक विश्लेषण किया गया है, उनसे पृथक एक स्वरूप और है। वह है, विज्ञान, समाज-विज्ञान, अर्थनीति, शिक्षा, स्वास्थ्य, अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर लिखे गये सम्पादकीय लेखों का रूप। ऐसी रचनाओं में विषय का क्रमबद्ध विवेचन ही नहीं है, विषय से सम्बन्धित सभी पक्षों पर विशद-विचार तथा आवश्यकतानुसार जानकारियों, आँकड़ों एवं तालिकाओं का समुचित प्रयोग भी है। इनकी शैली सीधी और सपाट है। भावातिरेक से बचकर विषय को सारगर्भित अद्यतन बनाने के साथ इनमें सम्पादक ने अपनी विनम्र सम्मति भी देने का प्रयास किया है। काव्यात्मक शैली एवं भाषा का प्रयोग की सरसता इनमें नहीं है किन्तु विवेचना में ओजस्वी शैली की झलक अवश्य मिल जाती है। इस ओजस्विता का कारण, लेखक की प्रश्नवाचक पद्धति तथा तर्कों की विशदता है।

भारतीय इतिहास में खिलाफत आन्दोलन बहुत प्रसिद्ध रहा है। टर्की के प्रश्न को लेकर ब्रिटिश तथा यूरोपीय सरकारों के प्रति, वहाँ भारतीय मुसलमानों ने यह आन्दोलन आरम्भ किया था जिसमें हिन्दुओं ने भी उन्हें पर्याप्त सहयोग दिया था। एक प्रकार से यह अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न बन गया था। इस स्थिति की विशद् जानकारी, तार्किकता तथा आवेश शून्य चिन्तन की स्पष्ट झलक विद्यार्थी जी के निम्नांकित सम्पादकीय में है। भाषा की एकरूपता, सरलता, मुहावरों के प्रयोग ने रचना को बोधगम्य तथा सन्तुलित रूप दे दिया है।

इस रचना का निम्नांकित अंश द्रष्टव्य है—"यूरोप की कूटनीति के चेहरे पर से नकाब उठता जाता है। संसार की भोली से भोली जाति भी अब उस चेहरे से अपरिचित नहीं। यह परिचय इतना गहरा और तीखा है कि वह भुलाये भी नहीं भूलता। यूरोप वाले अपनी सफाई में कुछ भी कहें, उसका रूप सुन्दर और सलोना होते हुए भी चित्त को मोह नहीं सकता। यूरोप कहता है कि टर्की ने बड़े-बड़े जुल्म किये, उसे दण्ड मिलना ही चाहिये।...हम यह मानते हैं कि अरब वाले स्वाधीनता चाहते हैं परन्तु इस सारी अवस्था को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम कुछ और

भी गहराई से विचार करें।...हम यह नहीं मान सकते कि टर्की का अंग-भंग इसलिये किया जा रहा है कि उसने अन्याय किया। निःसन्देह यूरोप वाले न्याय और सुशासन के ठेकेदार हैं...परन्तु उनके काम और बात में आकाश-पाताल का अन्तर है। जिस समय अफ्रीका के कांगो प्रदेश में देशी आदमियों पर बेलजियम का घोर अत्याचार हो रहा था...उस समय यूरोप की जबां पर क्यों ताला पड़ा हुआ था? अमेरिका में नीग्रो लोग तनिक से अपराध पर बहुधा जिन्दा जला दिये जाते हैं, तब आप क्यों नहीं बोलते? बाक्सर युद्ध के समय यूरोप के महाबली राष्ट्रों ने चीनियों के प्रति कौन-सा अत्याचार बाकी रख छोड़ा था? तब आप चुप क्यों रहे? मेक्सिको में बड़ा कुशासन है, उसमें सुशासन की सत्ता क्यों नहीं स्थापित की जाती? मिस्र और भारतवर्ष, कोरिया और आयरलेण्ड को भी स्वाधीनता की चाह है फिर अकेला अरब ही क्यों स्वाधीनता का हकदार समझा जा रहा है?...यूरोप के मुँह से निकली हुई न्याय और स्वाधीनता की ध्वनि में वहीं तक कुछ सच्चाई रहती है, जहाँ तक उसका उससे मतलब सधता है, परन्तु अन्य अवस्था में वह पानी पर खींची गई लकीर के सदृश्य है।"

इसी रचना का अन्तिम अंश लेखक की विवेचन शक्ति और निजी दृष्टि की झलक देता है। वह इस प्रकार है—

"टर्की से भाग्य का निपटारा किस प्रकार होगा, इसके बतलाने के लिये किसी ज्योतिषी की आवश्यकता नहीं। विजयी लोगों के कदम पीछे हटते नहीं दिखते, धमकियाँ और निश्चय, यूरोप के धनिकों की उस चाल को नहीं बदल सकते।...मुसलमान तुले हुए बैठे हैं, वे शान्ति से नहीं बैठेंगे? अप्रत्यक्ष विपत्तियों, भारी कटुताओं, दारुण दुखों का वहाँ पर डेरा हो जायगा, जहाँ दृढ़ निश्चय और तपस्या द्वारा विजय की तैयारियाँ हो रही हैं।...हम महात्मा गांधी की महत्ता पर विश्वास करते हैं, परंतु यह विश्वास हमें स्पष्ट रूप से कहने में नहीं रोकता कि यहाँ पर वे गलती कर रहे हैं और यदि कार्य उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार से किये जाने की तैयारी हो रही है तो असफलता होगी।...विपत्तियों का ख्याल हमें चिन्तित नहीं करता, हमें जो चिन्ता है वह यह कि, काम करने का ढंग जो है, वह आधुनिक ढंग से सुसंगठित शक्तियों के मुकाबले में हमें और भी अधिक अनुपयुक्त अवस्था में रख देता है। हम इस ढंग के विरुद्ध अपनी आवाज उठाते हैं।"

(प्रताप, ५ अप्रैल १९२०)

एक दूसरा उदाहरण इस प्रकार है। विद्यार्थी जी ने तत्कालीन उच्च सरकारी अधिकारियों से सम्बन्धित व्यय पर "लूट" शीर्षक सम्पादकीय लिखा था, जिसमें तथ्य सम्बन्धी उनकी जबरदस्त पकड़ का पता चलता है। इसका कुछ अंश यहाँ अवलोकनार्थ उद्धृत है—

"इस गरीब देश पर दो करोड़ ६० साल का बोझ और पड़ रहा है। कहने को लिये सिविल सर्विस के कर्मचारी भारतवर्ष के नौकर हैं, पर यथार्थ में वे देश के मालिक

या राजा हैं। १९१९ में उनकी तनख्वाहें बढ़ी थीं, परन्तु उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। यहाँ और इंगलैण्ड में उन्होंने शोर मचाना शुरू किया, कहने लगे तनख्वाह कम है, जिम्मेदारियाँ ज्यादा हैं। इस प्रपंचमयी चीख-पुकार और धूमधाम की आड़ लेकर नवम्बर १९२३ में लार्ड ली की अध्यक्षता में एक कमीशन बैठा। अब लगभग सात माह के बाद उनकी खोज का पहले ही से सोचा समझा फल प्रकाशित हो गया। पिछले अप्रैल मास से बड़े-बड़े नौकरों की तनख्वाह और सुविधायें बढ़ जायेंगी। कमीशन का कहना तो यह है कि सवा करोड़ ही लगेगा परन्तु एक बारीक ढंग से हिसाब लगाने वाले का कहना है कि दो करोड़ से कम न लगेगा।...होगा क्या? वह भी सुन लीजिये। गोरे नौकरों को जो भत्ता मिलता है वह बढ़ेगा। गोरे नौकर इंगलैण्ड जो रुपया भेजेंगे, वह एक रुपये में दो शिलिंग के हिसाब से जायगा। इस समय एक रुपया एक शिलिंग चार पेंस के बराबर है। इसका अर्थ यह हुआ कि रुपया पीछे आठ आना खजाने से दिया जायेगा।...अभी तक बड़ी से बड़ी पेंशन १५,००० रु० साल की थी, अब २२,५०० रु० साल की तजवीज है।"

तथ्यात्मक प्रस्तुतीकरण के पश्चात् लेखक का विचार-विमर्श, तर्क एवं निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

"बड़ी नौकरियों पर हिन्दुस्तानियों के पहुँचाने की भी कुछ योजना करके इस लूट-खसोट की लीपापोती की गई है। कहा गया है कि सिविल सर्विस और पुलिस की बड़ी नौकरियों पर भारतीय ६० और ५० प्रतिशत रखकर, १५ और २५ वर्ष के भीतर गोरों के बराबर कर दिये जाँय। राजकीय विभाग में भारतीय २५ प्रतिशत ही रखे जाँय। सेना की ऊँची नौकरियों के सम्बन्ध में कमीशन सन्नाटा खींच गया है। व्यापार से, नौकरियों और पेंशनों से, सैनिक खर्च से और भारतीय धन के विलायती स्वर्णकोष में होने से जहाँ भारतवर्ष के धन की कई प्रकार की लूट दिनरात हो रही है, वहाँ यह दो करोड़ की लूट और सही। इस लूट का कुछ हिस्सा हिन्दुस्तानियों को भी दिया जा रहा है परन्तु इससे उसके लूट के नाम से पुकारे जाने में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। लुटेरों के गोरे या काले होने से उस व्यक्ति के हृदय की कसक में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता, जो लूटा जा रहा हो, और क्या कहे, सिवाय इसके कि—

बाबा जी का माल है, लूट सके सो लूट।"

(प्रताप, २ जून १९२४)

विद्यार्थी जी द्वारा लिखित टिप्पणियों के सम्बन्ध में संकेत किया जा चुका है। वास्तव में वे अग्रलेख लिखने में जितने सिद्धहस्त थे, उतने ही कुशल टिप्पणी लेखन में भी। छोटी-छोटी घटनाओं, समचारों, तथा गतिविधियों पर विचारोत्तेजक टिप्पणी लिखना उन्हे प्रिय था। 'प्रताप' के आरम्भिक वर्षों में तो एक अंक में सामान्यतः चार-पाँच टिप्पणियाँ तक मिलती हैं, आगे के अंकों में इनकी संख्या दो या तीन तक हो गई है। टिप्पणियों का शीर्षक लिखने में विद्यार्थी जी प्रायः मुहावरे का प्रयोग करते थे। ऐसे उपयुक्त शीर्षक के साथ, टिप्पणियों की व्यंग्यात्मक शैली, भाषा की

चुस्ती और चुहलबाजी पाठकों के लिये अत्यन्त रोचक सामग्री प्रदान करती। वे कभी-कभी टिप्पणियों का आरम्भ किसी घटना या कथा-कहानी से करते और अंत में किसी प्रश्न या समस्या के वैचारिक तत्व को उभारने की कोशिश करते। कुछ टिप्पणियो के शीर्षक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत हैं—

मुहरे लुटी जाय और कोयलों पर छाप,
बिल्ली को ख्वाब में भी छिछड़ ही नजर आते हैं।

(प्रताप, जनवरी १९१४)

एक चुप्पी हजार बला को टालती है, आकाश-पाताल का अन्तर, अन्त में वही ढाक के तीन पात, चिराग तले अँधेरा।

(प्रताप, २१ दिसम्बर १९१३ और १४ दिसम्बर १९१४)

टेढ़ी चालें, बड़े-बड़ों की बड़ी बात, उलटी हवा, ऐतिहासिक मूर्खता, गरीब पटवारी।

(क्रमशः प्रताप, ११-१-१९१५, ३-५-१९१५, १८-८-१९१६, १६-६-१९१८, १-९-१९१९)।

'प्रताप' सम्पादन के आरम्भ से लेकर अपने कार्यकाल तक विद्यार्थी जी मे टिप्पणियों के ऐसे ही शीर्षक प्रयोग की रुचि बनी रही। मुहावरों अथवा ऐसे ही लोक प्रचलित शब्दों के प्रयोग का उनका अपना ढंग 'प्रताप' के अंकों में बराबर देखा जा सकता है। यहाँ उनके संपादन के अन्तिम वर्षों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

अरण्य रोदन, मृगतृष्णा, अंग्रेजी डींग, शतरंज की चालें, धोखे की टट्टी, नजरे इनायत, समुद्र मंथन।

(क्रमशः प्रताप, २-२-१९२५, २३-२-१९२५, ६-७-१९२५, ७-१२-१९२५, १-८-१९२६)

टिप्पणियों की व्यंग्यात्मक शैली रोचक विषयवस्तु, चुभती हुई भाषा जैसी विशेषतायें जन सामान्य को अधिक स्वीकार हो सकती थीं। सम्भवतः इसी उद्देश्य को विद्यार्थी जी ने सदैव सामने रखा। यही कारण है कि इनमें आम जनता के जीवन से सम्बन्धित प्रश्नों, प्रसंगों और समस्याओं को प्रमुखता दी गई। 'प्रताप' के प्रथम अंक की एक टिप्पणी यहाँ उद्धृत है, जिसका शीर्षक है "बिहार के शिक्षा डाइरेक्टर मिस्टर हालवर्ड।"

"यदि एक अशिक्षित आदमी कुछ उटपटाँग बक जाय, तो उस पर ध्यान देने की जरूरत नहीं, लेकिन जब कोई जिम्मेदार आदमी बेसिर पैर ही की नहीं, किन्तु तंगख्याली से भरी हुई, दिल दुखने और अपमान करने वाली बात खुले बाजार कहे, तो उसकी बदतमीजी पर कान न देना कदापि उचित नहीं। हाल ही में शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर हालवर्ड ने, जो निस्सन्देह एक बड़े सुशिक्षित आदमी होंगे, अपनी योग्यता और उदारता की बानगी दिखाई थी। ये हजरत अब भारत से जा रहे हैं। इसलिये

बिहार के छोटे लाट सर चार्ल्स वेली ने राँची में इन्हें गार्डन पार्टी दी थी। समय और अवसर, अपने और दूसरों के मान-मर्यादा का कुछ भी ख्याल न रखते हुए आपने कह डाला—मैं तो काले आदमियों, काली स्त्रियों और पीले आदमियों, पीली स्त्रियों को पसन्द नहीं करता। कौन कहता था जनाब कि आप इन्हें पसन्द करें और साथ ही किसने कहा था कि आप उनके ऊपर खुले शब्दों में राय प्रकट कीजिये। दुःख की बात तो इतनी ही है कि आपके भाग्य में कालों के बीच में ही काम करना बदा था और संतोष की बात भी इतनी ही है कि अब आप उनसे विदा ले रहे हैं और साथ ही सदा के लिये।"

मनोरंजन तथा कथात्मक शैली की दृष्टि से एक दूसरी टिप्पणी का अंश प्रस्तुत है—

"कानपुर में एक विवाह का हाल सुनिये। वर थे ठाकुर जी, कन्या थी तुलसा। ठाकुर जी की तरफ से पुजारी जी समधी बने थे और कन्यादान करने वाली थीं, अक्ल, उम्र और धन सभी में बढ़ी-चढ़ी एक बूढ़ी मारवाड़ी स्त्री। ठाकुर जी को तीन-चार सौ के गहने मिले। पुजारी जी की भी लगभग इतने ही से पूजा हुई। बारातियों का भी दो-एक दिन का मन बहलाव रहा। मारवाड़ी बुढ़िया के दस सौ पल्ले से गये। अब गौने की साइत विचारी जा रही है।…होना था सो तो हो ही गया लेकिन दोष किसका? पुजारी का नहीं, क्योंकि उसके हृदय में श्रद्धा है—उसके मन में पुण्य कमाने की चाह है और साथ ही रुपये और अक्ल दोनों का अजीर्ण भी है। लेकिन दोष है उस समाज का, जो अपनी अक्ल से इतना सोचने का काम लेने को तैयार नहीं कि इस बात की जरूरत नहीं कि वह अपने लड़के-लड़कियों के विवाह की तरह देवी देवताओं के विवाह करवाता फिरे।"

(प्रताप, १६ नवम्बर १६१३)

विद्यार्थी जी के संपादकीय लेखों तथा टिप्पणियों के अनुशीलन से कुछ मूलभूत निष्कर्ष सामने आते हैं। 'प्रताप' के प्रथम अंक का संपादकीय लिखते समय उन्होंने जो उद्घोष किया था, उसी की प्रतिध्वनि, उसी की हुङ्कार इन रचनाओं में व्याप्त है। लोकहित के साथ, व्यक्ति की पीड़ा निवारण का प्रयास, अन्याय और असत्य का प्राणप्रण से विरोध विद्यार्थी जी के लिये सर्वोच्च स्वधर्म था। रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में "भरत" की जिज्ञासा शान्त करते हुए भगवान् राम ने एक ही मन्त्र दिया था।

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

विद्यार्थी जी ने इसी मन्त्र को आदर्श मानकर इसके लिये अपने को समर्पित कर दिया था। इस समर्पण का ऐतिहासिक आलेख है, 'प्रताप' का प्रथम संपादकीय। इसके कुछ उद्गार इस प्रकार थे—

"आज अपने हृदय में नई-नई आशाओं को धारण करके और अपने उद्देश्यों पर पूर्ण विश्वास रख कर 'प्रताप' कर्मक्षेत्र में आता है। समस्त मानव जाति का कल्याण हमारा परमोद्देश्य है और इस उद्देश्य की प्राप्ति का एक बहुत बड़ा साधन हम भारतवर्ष की उन्नति को समझते हैं···इसी को हम अपनी लेखनी का लक्ष्य बनावेंगे।··· किसी भी प्रशंसा या अप्रशंसा, किसी की प्रसन्नता या अप्रसन्नता, किसी की धमकी या घुड़की हमें अपने मार्ग से विचलित न कर सकेगी। सत्य और न्याय हमारे पथ प्रदर्शक होंगे।"

(प्रताप, प्रथम अंक)

संक्षेप में इन सभी रचनाओं में सत्य और न्याय का आह्वान है। इस दृष्टि से इनमें वैचारिक स्पष्टता, लोक मंगल की प्रेरणा तथा ओजस्वी भाषा शैली सर्वत्र दृष्टि-गोचर है।

साहित्य के पृष्ठ

विद्यार्थी जी की आरम्भिक साहित्यिक रचनाओं की चर्चा की जा चुकी है। संपादक के रूप में उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह सभी साहित्य-कोटि में रखना उचित नही होगा किन्तु उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में एक निर्विवाद तथ्य है। उनमे साहित्यिक कृतित्व की पर्याप्त क्षमता अवश्य थी। अपने निधन के पूर्व, उन्होंने 'प्रताप' मे "जेल जीवन की झलक" शीर्षक एक लेखमाला आरम्भ की थी। साहित्यिक विधा के अनुसार इन्हें हम सफल संस्मरण की कोटि में ले सकते हैं। खेद है कि लेखमाला मे चार-पाँच रचना-पुष्प अर्पित करने के बाद ही उन्हें महाप्रयाण करना पड़ा। ये रचनायें संख्या में कम हैं, परन्तु यदि इस दिशा में, उनका प्रयास पूर्ण हो पाता तो संस्मरण साहित्य के वे एक यशस्वी लेखक के रूप में हमारे सामने होते।

साहित्यिक दृष्टि से उनका दूसरा रूप निबन्धकार का है। उनके ऐसे स्वतन्त्र निबन्धों की संख्या लगभग एक सौ है। इनमें निबन्ध का साहित्यिक पक्ष सुगठित, विवेचनात्मक तथा विचारोत्कर्ष के लक्ष्य तक पहुँचा हुआ है। आचार्य श्यामसुन्दरदास ने निबन्ध की कोटि तक पहुँचने के लिये किसी भी रचना में लेखक के व्यक्तित्व की पूर्ण झलक को अनिवार्य माना है। इस विन्दु से विद्यार्थी जी द्वारा लिखित विपुल सम्पादकीय रचना भंडार में से कुछ रचनायें निबन्ध के समकक्ष रखी जा सकती हैं। उनका लेखन काल लगभग पन्द्रह वर्षों का है। इन वर्षों की कई सौ रचनाओं में से, लगभग एक सौ रचनायें साहित्यिक सौन्दर्य, स्थायित्व तथा श्रेष्ठ वैचारिक पक्ष के कारण मूल्यवान हैं। उनके महत्वपूर्ण सम्पादकीय लेखों का संकलन "क्रान्ति का उद्घोष" नामक ग्रन्थ दो खण्डों में गतवर्ष प्रकाशित हुआ है। इसके संयोजक कानपुर के श्री रामकृष्ण अवस्थी ने इस प्रयास के द्वारा एक ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति करके, अभिनंदनीय कार्य किया है। इस संकलन में स्थायी साहित्य की दृष्टि से उनके अनेक निबन्ध प्राप्त नहीं है। यहाँ विद्यार्थी जी के साहित्यिक कृतित्व, विशेष रूप से निबन्ध की साहित्यिक विधा को ध्यान में रखकर ही इनकी संख्या एक सौ के लगभग मानी गई है।

इन रचनाओं में प्रायः दो प्रकार की शैली निरूपित है। सामान्य विषयों से सम्बन्धित रचनाओं में, बिना किसी लम्बी भूमिका के, सीधे मुख्य विषय का आरम्भ

और विवेचन है। भावात्मक विषयों की रचनाओं का आरम्भ किसी भावचित्र, मार्मिक प्रसग अथवा तेजस्वी वातावरण के साथ किया गया है। प्रथम शैली में लेखक यथार्थ और विचार के प्रति पूरी तरह सजग है। दूसरी शैली में भावुक कल्पना तथा संवेदन-शील उद्‌गारों का मनोरम वैविध्य है। एक में लेखक प्रवर्तन से विवेचन तक विचार मंथन के द्वारा निष्कर्ष प्रस्तुत करता है, दूसरे में भाव मूलक व्यंजना तथा काव्यात्मक अनुभूतियों का इन्द्र धनुषी रंग है। इनमें विद्यार्थी जी की गहरी संवेदनशीलता तथा कवि हृदय की मूल प्रवृत्ति है। यह अनुवृत्ति भाव तथा भाषा दोनों में सहज झलकती है। उनकी काव्यात्मक वृत्ति की पुष्टि उन्हीं के सहयोगी श्री सुरेन्द्र शर्मा ने इस प्रकार की है—

"परम पिता ने विद्यार्थी जी को बड़ा भावुक और एक कवि हृदय दिया था। अनेक अवसरों पर लिखे गये, उनके लेखों में पराधीनता के कारण उत्पन्न हुई इस दलित देश की हीनावस्था और यहाँ के झोपड़ों में रहने वाले करोड़ों प्राणियों की दयनीय दशा का दर्दनाक चित्र देखने को मिलता है। जिस प्रकार हम किसी उत्कृष्ट कविता को पढ़ते समय आनन्द और करुणा के भावों में विभोर हो उठते हैं, उसी प्रकार विद्यार्थी जी के उन लेखों को पढ़कर करुणा सागर में डूबने-उतराने लगते हैं। उन लेखो मे अपनी-अपनी जगह पर अद्‌भुत शान्ति, करुणा, वीर आदि रसों की सजीव प्रतिमा अपने स्वाभाविक ढङ्ग से अठखेलियाँ करती हुई दिखाई पड़ती हैं। उन्हें पढ़कर कोई आदमी यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि विद्यार्थी जी कवि नहीं थे।"

इन दोनों प्रकार की रचनाओं में तेजपुंज व्यक्तित्व की झलक तथा भाषा का सतत प्रवाह विद्यमान है।

उनके भावनाशील निबन्धों के कुछ आरम्भिक अंश यहाँ प्रस्तुत हैं। इनसे स्पष्ट होता है कि रचनाओं के आरम्भ द्वारा ही विद्यार्थी जी उनके भावी स्वरूप का स्पष्ट संकेत कर देते थे। भाव और भाषा दोनों में समान रूप से उपस्थित गति-शीलता, समूची रचनाओं की महत् उपलब्धि है। 'प्रताप' के प्रथम अंक में प्रकाशित "महाराणा प्रताप" शीर्षक निबन्ध का आरम्भिक अंश इन्हीं तथ्यों को प्रकट करता है—

"बलिदान, केवल बलिदान, चित्तौड़ की स्वतंत्रता केवल बलिदान चाहती है। बादल उमड़े थे, बिजलियाँ कड़कती थीं, और घोर अंधकार छा गया था। अपवित्रता पवित्रता पर कब्जा करना चाहती थी और अनाचार आचार और व्यवहार की ईंट से ईंट बजा देने वाला था।...बेढब बाजी लगी थी। पद्मिनी का दाँव था, पासे पलट रहे थे लेकिन रुख बदला। किसी की दया या कृपा से नहीं, कमजोरी या नीचता से भी नहीं। रक्त की वर्षा हो गई। चित्तौड़ की देवियों को राख का ढेर होते देखकर चित्तौड़ की स्वतंत्रता देवी के हृदय की ताप मिट गई।"

इसी प्रकार दूसरा अंश 'कर्मवीर गांधी' शीर्षक रचना से उद्धृत है—

"संग्राम, घोर संग्राम, न्याय और अन्याय का, मनुष्य के सर्वोच्च भावों और

उसके सबसे नीचे भावों का। पशुता मनुष्यता के मुकाबले में है। एक ओर विकराल शक्ति और दूसरी ओर सौम्य शक्ति। एक ओर पशुबल और दूसरी ओर धैर्य और दृढ़ता। एक ओर प्रकृति के स्वयं निर्मित ठेकेदार दूसरी ओर प्रकृति की स्वाभाविकता के साथ उपासना करने वाले।···मोहनी मूर्ति और संसार मोह गया। विकट जाल, मोह गये, फँस गये और सो गये···अमृत और विष, शिष्टता और कटुता।"

(प्रताप, १६ नवम्बर १८१३)

एक तीसरे भावात्मक निबन्ध 'वे' का आरंभिक अंश इस प्रकार है—

"अनुत्तरदायी, जल्दबाज, अधीर, आदर्शवादी, डाकू, लुटेरे, हत्यारे, अरे ओ! दुनियादार, तू उन्हें किस नाम से किस गाली से विभूषित करना चाहता है। वे मस्त हैं, वे दीवाने हैं, वे इस दुनिया के नहीं हैं। वे स्वप्नलोक की बीथियों में विचरण करते हैं। उनके कल्पनालोक में ऊँच-नीच का, धनी-निर्धन का, हिन्दू-मुसलमान का भेद नहीं है। इसी संभावाना का प्रसार करने के लिये वे जीते हैं। वे दुनिया में इसी आदर्श की स्थापना के लिये मरते हैं। वे विद्रोह के पुंज हैं।"

(प्रताप, २२ अप्रैल १८२७)

ऐसे निबंधों में भावधारा जिस उन्मेष एवं गति से आरम्भ होती है, वह रचना के अन्त तक उत्कर्ष तथा मार्मिकता के उत्तुंग शिखर तक पहुँचती है। एक ओर चित्रात्मक शैली विषय वस्तु को सजीव बनाती है, दूसरी ओर मार्मिकता, काव्यत्व का रसानुभूति कराती है, शैली की नाटकीयता, भाषा की समाहार शक्ति का आभास देती है, तथा भाषा का ओजस्वी रूप शैली को वेगवान सिद्ध करता है। इन निबन्धो मे भावानुभूति रसों के दो किनारों के साहचर्य में अधिक तरंगित होती है। ये दो रस वीर तथा करुण हैं। एक में पाठक जीवन का अत्यन्त जाग्रत रूप देखता है, दूसरे में करुणा का अश्रु प्रवाह आँखों को "उतनी सजल जितनी सजल बरसात" बना देता है। जिन रचनाओं के आरंभिक अंश उद्धृत किये गये है, उनके अंतिम अंशों में ये विशेषतायें प्रत्यक्ष हैं। प्रथम का अंतिम अंश इस प्रकार है—

"—फिर वही दृश्य और फिर वही कार्य। समय के पहिये घूमे और चित्तौड़ की स्वतन्त्रता देवी ने दया या निर्दयता से फिर अपना खप्पर हाथ में लिया। वीरो ने फिर उसे अपने अमूल्य खून से भर दिया, लेकिन जयमल और उसके वीर साथियों का रक्त उसके प्यास को उफान सका।···चित्तौड़ खाली हुआ। अकबर का झंडा उस पर फहराने लगा। चित्तौड़ के दरो दीवार ने उस पर आँसू बहाये। चित्तौड़ की स्वतन्त्रतादेवी चाहती है बलिदान।···उदयसिंह आगे बढ़े और अपने प्राण उसकी पवित्र वेदी पर कुर्बान कर! लेकिन अरे! यह क्या? देवी की प्रतिष्ठा करने के लिये उठकर आगे बढ़ने के बजाय तू पीठ देकर भागता है। याद रख! तेरी इस भीरुता का फल अच्छा न होगा। आने वाली संताने बड़ी शर्म से तेरा नाम लेंगी। सचमुच वह दिन चित्तौड़ के लिये बड़ा अभागा था, जिस दिन पन्ना ने तेरे लिये अपने बच्चे के हृदय में कटारी घुसने दी। हत्यारे का शिकार तुझी को बनाना था।···अब तुम

(प्रताप) बेतरह घिर गये हो। तुम अकेले और ये इस्लामी सिपाही इतने। तुम्हारा मुकुट इस समय तुम्हारा शत्रु हो गया है। फेंक दो उसे। अरे फेंक दो उसे!... नहीं फेंकोगे? अच्छा राजपूत वीरो! आगे बढ़ो। बढ़ो आगे। बचाओ, हाँ, सर्दार के झाला तुम! हाँ बढ़ो बढ़ो। बस ठीक है झाला के सिर पर मुकुट है। इस्लामी तलवारें झाला पर पड़ने लगीं। 'प्रताप' को उन्होंने छोड़ दिया।" करुणा एवं वीर रस का सामंजस्य अंतिम पंक्तियों में है—

"... अँधेरी रातें, धधकती दुपहरियाँ, जाड़े का कड़ाका, वर्षा की रिमझिमाहट, आत्मा की याद, परमात्मा की उदासीनता, साथियों का मरते जाना और सैनिकों का कम होते जाना। कठिन तपस्या और कठोर व्रत। स्वतन्त्रता देवी की आराधना, एक नहीं दो दिन भी नहीं, एक साथ पच्चीस वर्ष तक। 'प्रताप' हमारे देश का प्रताप, हमारी जाति का प्रताप, दृढ़ता और उदारता का प्रताप। तू नहीं है केवल तेरा यश और कीर्ति है। संसार के किसी भी देश में होता तो तेरी पूजा होती। अमेरिका में होता तो वांशिगटन और अब्राहम लिंकन से किसी तरह तेरी कम पूजा न होती। इंगलैण्ड में होता तो वेलिंगटन और कोलसन को तेरे सामने सिर झुकाना पड़ता। स्काटलैण्ड में वालेस और राबर्ट ब्रूस तेरे साथी होते। फ्रान्स में जान आफ आर्क तेरे टक्कर की गिनी जाती और इटली तुझे मैजिनी के नाम से पुकारता। लेकिन—लेकिन हम भारतीयों के पास है ही क्या जिससे हम तेरी पूजा करें? एक भारतीय युवक आँखों में आँसू भरे हुये नेत्रों सहित अपने हृदय को दबाता हुआ, लज्जा के साथ गा नहीं, रो नहीं, कह भर लेने के सिवा कर ही क्या सकता है?"

"वे" शीर्षक निबन्ध का अंतिम अंश प्रवाहपूर्ण शैली तथा अत्यन्त मार्मिक अनुभूतियों का एक अनूठा उदाहरण है—

"वे विद्रोह के पुंज हैं। वे भारतवर्ष की अन्तर अग्नि की चिनगारियाँ हैं। वे इस बात के जबरदस्त प्रमाण हैं कि पूर्व पूर्व है, पश्चिम पश्चिम। उनकी भी मायें हैं, उनकी जो आज फाँसी की रस्सी गले में लटका कर मस्ती का गीत गाते हैं।...साल में त्यौहार भी आयेगें, उत्सव भी होंगे, मेले भी लगेगें और खेल तमाशे भी होंगे। उस वक्त में मायें क्या कहेंगी?...और आप जानते हैं, साल में दो त्यौहार बड़ी मुश्किल से कटेंगे, राखी और भैय्या दूज। राखी और भैय्या दूज के दिनों में इन घरों में न जाने क्या होगा? मुन्नी की आँखें भइया को खोजेंगी और अम्मा की आँखें लल्ला को। सजी हुई थाली में घुली हुई रोली सूख जायगी और राखी का वह प्यारा सूत प्रतीक्षा करते-करते थक जायगा। थाली भरी मिठाई यों ही रह जायगी और मुन्नी की आँखें लाल हो जायगी। माँ का मुँह सूखा रह जायगा। और...और हम लोगों के कान पर जूँ तक न रेंगेगी।...हम वैसे ही हँसेंगे, खेलेंगे, खायेंगे! हे आदर्श तुम बड़े कठोर हो, बड़े निर्दयी, बड़े प्रवंचक और बड़े भयानक हो।

(प्रताप, अप्रैल १९२७)

भावात्मक निबंधों में भाषा का समास मूलक स्वरूप अधिक विकसित है। भाषा

का साहित्यिक सौन्दर्य, प्राञ्जलता तथा भावावेग के कारण ऐसी सभी रचना में सुलभ है। यह सौन्दर्य कोमलता और माधुर्य के साथ बिखरा हुआ है। इसमें जटिलता तथा कृत्रिमता का आभास मात्र नहीं है। यद्यपि इनकी भावात्मक शैली भावों के आधिक्य अथवा भाषा के ओज के कारण कहीं-कहीं व्याख्यानात्मक हो जाती है। तथापि भाव-धारा का क्रम अटूट और एकरस बना रहता है। यहाँ ऐसा ही एक अंश प्रस्तुत है—

"अंधकारमय निशा में दूर-दूर तक शुभ्र ज्योत्स्ना छिटकाने वाली दीपावली की दीपमाला। तेरा और तेरी रश्मियों का स्वागत। स्वागत इसलिये नहीं कि तेरी श्री सम्पन्नता की द्योतक और वैभव का रूप है, धनराशि का प्रतिबिम्ब और सुख क्रीड़ाओं की सूचना है।...कालचक्र की कुटिल गति के कारण आज भूमण्डल के इस भाग मे जहाँ उत्सुकता तेरी बाट जोहती और पसारे हुये बाहु तेरा स्वागत करते, आज आनंद की भावनाओं में वह शक्ति नहीं रह गई है।...फिर भी स्वागत हृदय से, रोम-रोम से, आत्मा के अन्तरतर से, दीपावली के नाम पर नहीं, तुम्हारे गुणों के नाम पर, केवल उस प्रकाश के नाम पर, जो तुम उस समय भी देते, जब कि तुम दीपावली छोड़कर और किसी अवसर पर प्रज्ज्वलित किये जाते।...अपना प्रकाश दूर तक, दूर-दूर तक फेंको, जहाँ तक फेंक सको, वहाँ तक फेंको। तुम्हारा प्रकाश अंधे की आँखो की ज्योति का सहारा बने।...वे आँखें खुल जांय जो बन्द हैं और जो बन्द कर दी गई हैं।"

(दीपावली, प्रताप २७ अक्टूबर १९१९)

व्याख्यानात्मक शैली में भाषा काव्यात्मक परिवेश छोड़कर सुगम, सीधी और अलंकार युक्त होकर, मुहावरेदार हो जाती है, जैसे—"एक भाग उनका है, जो आँखे बन्द करके दुनिया में रहना चाहते हैं जो विषय-वासनाओं की जंजीरों में जकड़े हुये भी, अपने आपको सुखी और स्वतन्त्र समझ बैठे हैं। जिन्हें सत्य और असत्य, न्याय और अन्याय की खोज से कोई मतलब नहीं। जो हवा के झोंकों के साथ-साथ अपनी सम्मतियों को बदलते हैं, स्वार्थ और झूठी प्रतिष्ठा के लिये सदा हाँ में हाँ मिलाने का मंत्र जाप करते हैं, जो कुल, मान, वंश तथा सत्ता के पद से मतवाले होकर अनाचार और अत्याचार करते हैं, जो समाज के शत्रु और आत्मघातक हैं।"

विद्यार्थी जी के विचारात्मक तथा अन्य रचनाओं में, शैली और भाषा का स्वरूप एकदम पृथक है। इनमें भावों का स्थान विचारों ने ले लिया है। भावुक हृदय की अपेक्षा चिन्तनशील मस्तिष्क की चेतना तथा प्रगल्भता है। विचारों को प्रस्तुत करने से लेकर प्रतिपादन और निष्कर्ष तक, लेखक उपदेशक नहीं, एक जाग्रत चिन्तक के रूप में सामने आता है। विचार प्रवाह की गंभीरता के बीच, विषय की सरसता तथा भाषागत प्रवाह की पूरी रक्षा करना लेखक की कुशलता है। विचार-विमर्श को बोधगम्य बनाने के लिये उपमाओं और दृष्टान्तो का प्रयोग, रचनाकार के संवेदनशील हृदय का बराबर स्मरण दिलाता रहता है। "आदर्श और समझौता" शीर्षक रचना का कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत है—

"आदर्श के उपासक और समझौते के पक्षपाती में उतना ही अन्तर है जितना प्रात:काल और सायंकाल में। जिस प्रकार प्रात: काल की लालिमा का मन्द समीकरण आगे प्रस्फुटित होने वाले प्रकाशमान दिनमणि के पूर्ण तेज का सूचक होता है, उसी प्रकार आदर्शवादी का आशामय जीवन संसार के विपुल तेजमय कल्याण का सूचक होता है। सांध्यकाल जिस प्रकार रात्रि के आगमन का द्योतक होता है, उसी प्रकार समझौते का उपासक अनिश्चय की रात का प्रतीक होता है। आदर्श का उपासक निराशाओं के प्रति उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। उसका जीवन युद्धमय है। समझौते का उपासक व्यावहारिक कठिनाईयों की दुर्दमनीयता देखकर घबड़ाता है। वह अपने को नीति कुशल तथा नीति-चतुर के नाम से पुकारता है। वह मरना नहीं जानता। इसके विपरीत आदर्श का पूजक अपने जीवन से राष्ट्र या समाज को नव-जीवन सन्देश देता है। उसका मरण अनन्तकाल के लिये संसार की अमूल्य सम्पत्ति बन जाता है।"

(प्रताप, अप्रैल १९२१)

इस प्रकार विद्यार्थी जी की भावात्मक, विचारात्मक अथवा अन्य प्रकार की रचनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उनमें पाठकों के अंतरतल को छू लेने की असदिग्ध क्षमता थी। सभी प्रकार की रचनाओं में उनकी विशेषताओं के निम्नांकित बिन्दु अवश्य मिलते हैं।

१. भावजनित मार्मिक व्यंजना तथा काव्यात्मक स्पर्श।

२. वैचारिक पक्ष की स्पष्टता, प्रभावशाली विवेचन शक्ति।

३. भाषा की प्रवाहशीलता तथा ओजस्विता।

राष्ट्रीय सन्दर्भ में लिखी गई रचनाओं में ओजस्विता स्वाभाविक थी, किन्तु सामान्य से सामान्य विषय पर लिखते समय भी विद्यार्थी जी की प्रवाहमयी भाषा का तेजस्वी रूप अविरल रूप में बना रहता है। उनकी भाषा शैली की यह सबसे बड़ी पहचान है। कहीं-कहीं यह तेजस्विता भावात्मक विचारात्मक पक्ष को ओजस्वी बनाती है और कहीं-कहीं सामान्य निरूपण के व्याख्यात्मक अथवा व्यंग्यात्मक पक्ष को। इस सम्बन्ध में, अलग-अलग विषय पर लिखी गई दो रचनाओं की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"हमारी आदतें तो बिगड़ रही हैं, जिनको जन्म से लेकर मरण तक सिखाया जाता है कि स्त्रियाँ उन जीवों का नाम हैं जो पक्षी से बड़ी होती हैं, इसलिये वे लोहे के पिंजड़े में बन्द नहीं हो सकतीं। हमारी स्त्रियाँ लड़कपन में तिरस्कार, भाग्य कोसने और खरीद-फरोख्त का कारण बनती हैं, युवावस्था में बच्चा जनने की मशीन और बुढ़ापे में सेविका पद पर आरूढ़ होती हैं।"

(प्रताप, २५ जनवरी १९१४)

"मनुष्य का हृदय सदैव अपने आप के दर्शन करने का इच्छुक रहा। अपने छोटे से घर में उसने मेरा लड़का और मेरी सम्पत्ति देखी। अपने छोटे से गाँव में उसने मेरा खेत और मेरा कुँआ तालाब देखा। अपनी छोटी सी दिनचर्या में उसने सदा

ममत्व के ही प्रतिबिम्ब को देखा, यहाँ तक कि त्यागी संन्यासी के शान्त कुटीर में भी "मेरा दण्ड" और "मेरा कमंडल" दिखाई दिया। मनुष्यता ने अभाग्यवश कभी इस ममता को विकसित न होने दिया। अच्छा होता, यदि मानव हृदय तेरे को भी मेरा समझने लगता किन्तु ऐसा नहीं हुआ इसका फल आज मानवता अपनी आँखों से देख रही है।"

(प्रताप, ८ मार्च १९२१)

विद्यार्थी जी के संस्मरण लेखन का उल्लेख किया जा चुका है। वे संस्मरण "जेल जीवन की झलक" शीर्षक से 'प्रताप' के बारह अंकों में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुये थे। संस्मरण के लिये जिस तटस्थता, दिलचस्प शैली और टकसाली भाषा की जरूरत होती है वह इनमें मिलती है। जिस समय संस्मरण लिखे गये, उस समय इस विधा के विकास का प्रथम चरण था। तब भी इन रचनाओं में पर्याप्त रोचकता तथा जीवन्त शैली का प्रभाव है। इन रचनाओं के कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत हैं—"कानपुर जेल में कोई खास घटना नहीं घटी। फल आते थे, उन्हें काटा कैसे जाय ? चाकू नही मिल सकता था क्योंकि जेल वालों को डर था कि कहीं कैदी अपना गला न काट डाले। मेरा गला मुफ्त का न था परन्तु जेल वालों को इस पर विश्वास न था। अत मे उन्होने कहा—"आप चाँदी के चाकू से काम ले सकते हैं।" एक मित्र उसे जेलवालो को दे गये। इस जेल में तकलीफ न थी, परन्तु अकेले होने के कारण समय कटता न था। यहाँ तक किया कि दिन के घन्टे और घन्टे के मिनट तक गिन डाले थे। बैठा-बैठा बहुधा दीवार के पास सन-सन और खड़-खड़ करके जाने वाली ट्रामगाड़ी के आने जाने की संख्या गिना करता था। सबेरे से लेकर ग्यारह बजे तक ट्राम इस पटरी से उस पटरी पर इतनी बार गई होगी और आई होगी। एक दिन उकता कर बैरक भर मे कितनी ईंटें लगी हैं—उसके घर में कितनी ईंटें कम से कम आई हैं, उन सब की गिनती करता।"

"चार बजे से पहले ही लखनऊ से जेल के फाटक पर जा पहुँचे। फाटक खुला और उसी प्रकार जिस प्रकार वह चोर-डाकू और हत्यारों के स्वागतार्थ सहस्रों बार खुल चुका था। हम लोग भीतर दफ्तर में पहुँचे। लावारिस माल की भाँति, कई मिनट तक इधर-उधर भटकने के पश्चात्, एक बूढ़े मुँशी जी के पास गये। धीरे-धीरे मुँशी जी ने पूरे आराम के साथ रजिस्टरों में लिखना आरम्भ किया।...मेरी जन्मपत्री अभी बन रही थी कि इतने में कमरे में एक कोने से वन्देमातरम् की ध्वनि सुनाई पड़ी। जेल के एक कर्मचारी महोदय कई फाटक और आँगन नँघवाते हुए उस बैरक में ले गये जहाँ रहना था। वह यूरोपियन बैरकें थीं। वहाँ दो कैदी और थे। एक का नाम था, मि० मिला। किसी की कुछ चीजें बेचकर शराब पी गया और फल यह हुआ कि छः सप्ताह के लिये सम्राट जार्ज के इस होटल का उसे मेहमान बनना पड़ा।"

"जेल में कुछ मुसलमान सज्जनों ने हिन्दी पढ़नी शुरू की और हिन्दुओं मे से कुछ मौलाना बन चले थे। मौलाना जाफरी (प्रयाग) मकसूद आलम साहब (पीली-

मीत) हिन्दी पढ़ते थे और टंडन जी (राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन), राजेन्द्र नाथ बसु फारसी। कई आदमियों ने अपनी दाढ़ी बढ़ा ली थी। कहा जाता है कि दाढ़ी फारसी अध्ययन में सहायक होती है।"

"जेल अपने कर्मचारियों के लिये
कल्पवृक्ष या कपिला गऊ है।"

विद्यार्थी जी की रचनाओं के साहित्यिक सौन्दर्य एवं शिल्प के मूल्यांकन मे उनकी भाषा की चर्चा आवश्यक है। उनके लेखन के प्रारम्भिक वर्षों की भाषा सुसंगठित तथा सुनियोजित नहीं है। वाक्य रचना में शिथिलता, तत्सम शब्दों के बीच उर्दू के कठिन शब्दों का प्रयोग, व्याकरण की साधारण भूलें प्रायः इन रचनाओं में है। कहीं-कहीं "धन खर्चना भविष्यतः में होने वाले, पूज्यनीय पुरुषाओं के साहित्य दर्शन" जैसे खटकने वाले प्रयोग हैं। संस्कृत शब्दों के साथ "जेशे मसलहृत" "मुआमला", "आसमां के कुलबे" जैसे शब्दों का भी प्रयोग है। वस्तुतः उनकी भाषा का क्रमिक विकास हुआ था। लगभग पाँच आरम्भिक वर्षों के बाद, विद्यार्थी जी की भाषा का वास्तविक रूप दिखाई पड़ता है। सामान्य लेखन में लोक प्रचलित सभी शब्दों का समावेश किया गया है। यहाँ तक कि अंग्रेजी के उन शब्दों का भी निःसंकोच प्रयोग किया गया है जो आम जनता में प्रचलित हो उठे थे, जैसे कलेक्टर, स्टेशन मास्टर, ट्रेन, डाइरेक्टर, कौंसिल, नोटिस, कांग्रेस-मैन आदि। भावात्मक अथवा विचारात्मक प्रसगों में उनकी भाषा प्राञ्जल, लाक्षणिक तथा प्रवाहपूर्ण है। संक्षेप में, ओज, माधुर्य, व्यग्य-विनोद, उनकी भाषा का त्रिसूत्र है जिसके द्वारा उनकी समस्त रचनायें बँधी हुई हैं। उनके व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व तथा कृतित्व का प्रतिबिम्ब अधिकांश रचनाओं की भाषा में सर्वत्र प्रकट है। ऐसी भाषा के तीन उत्कृष्ट तथा प्रतिनिधि उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

"भारत के भावी इतिहासकार ये पंक्तियाँ लिखेंगे कि उस समय जब संसार भर में स्वाधीनता के युग का अवतरण हो रहा था, पद दलित देश अपने यहाँ से निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता को धक्के दे रहे थे। भारतवर्ष ही एक ऐसा देश था, भारतवासी ही ऐसे लोग थे, जो हतज्ञान थे, जो इस अवसर से लाभ उठाने की अपेक्षा घर ही में अग्नि लीला मचाने और एक दूसरे की गर्दन नापने में रत थे। स्वाधीनता की देवी इनके द्वार पर आई, उसने इनके किवाड़ों पर दस्तक दी, परन्तु वे अपने इस विनाशकारी खेल में इतने लवलीन थे कि उन्होंने यह आवाज सुनी ही नहीं।...उसके पिछड़ जाने का भार उन नवयुवक-नवयुतियों पर था जो यह देखकर भी नहीं देखते थे, और सुनकर भी नहीं सुनते थे।"

(प्रताप, ३ मार्च १६१६)

"अनंत समय पर्वत के वर्तमान शिखर पर खड़ी हुई मनुष्यता, भविष्य की अतल गहराई में कूदने को उद्यत है। अपने उन्माद में उसने अभी तक अपनी संकुचित ममता ही को जहाँ-तहाँ प्रसारित किया है। उसे चाहिए कि वह अपने भूत जीवन की

घूम-घुमैया और चढ़ाई पर एक बार सचेत होकर दृष्टिपात करे। कुछ स्तम्भों पर उसे लिखा हुआ मिलेगा "सावधान उन्मादिनी।" यदि इसे देखकर उसने सावधानी से आगे पैर बढ़ाया तो आशा के काले डोरे पर लटकी हुई उसकी आकांक्षायें कालिमामय पथ पर ज्वलन्त मणियाँ बन कर चमकेंगी, अन्यथा सन-सन करती हुई वायु के झंकोरे उस धागे को न जाने किधर उड़ा ले जायगा।"

(प्रताप, ८ मार्च १९२१)

"जब आकाश नरम होता है, जब वायु शान्त होती है, जब तटिनी अपने कूलों को विदारित न करके मन्द गति से बहती हुई, अपना नाम सार्थक करती है, जब पेड़ों की पत्तियाँ धीरे-धीरे हिलती हैं, और जब तरंगें सुस्वर में गीत गाती हैं तब तो कई ऐसे शौकीन मिल जाते हैं, जो अपना बजरा धार में छोड़ देते हैं। जब आकाश का पता नहीं है, दिशायें धुंआधार हो जाती हैं, जब तूफानी वर्षा होती है और नदी का वेग किनारों को काटता हुआ घहर-घहर कर बहता है, ऐसे समय कितने मल्लाह हैं, जो अपनी कागज की नाव मंझधार में छोड़ने का साहस कर सकते हैं।"

(प्रताप, १५ अगस्त १९२६)

चिन्तन-दिशाएँ :

विद्यार्थी जी देश के प्रति एकनिष्ठ समर्पित जननेता, स्वप्न-द्रष्टा, संवेदनशील साहित्य सेवी, सम्पादक शिरोमणि ही नहीं थे, वे एक दूरद्रष्टा, गम्भीर विचारक भी थे। उनके मोहक व्यक्तित्व एवं स्वता-धर्मी कृतित्व का विश्लेषण करने के उपरान्त एक ही सत्य हमारे सामने उजागर होता है। वे प्रत्येक अर्थ में महामानव थे और मनुष्य होना भी कितना कठिन, कितना दुर्लभ होता है। महर्षि वेदव्यास ने सहस्रों वर्ष पूर्व घोषित किया था। "न मानुषात् श्रेष्ठतरंहि किंचित्।" (मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।) विद्यार्थी जी एक ऐसे मनुष्य थे, जिसके व्यक्तित्व-आकाश में उज्ज्वल प्रकाश के अनेक छोटे-बड़े नक्षत्र थे। तारों की यह चमक, भावुकता के किसी क्षण अथवा संवेदनशीलता के किसी कण से उत्पन्न बादलों से कभी-कभी रुक जाती थी। यही उनके मनुष्य होने की सबसे बड़ी पहचान थी। प्रेमचन्द जी ने गोदान में मनुष्य के जिस जीवन का यशोगान किया है, उसी जीवन का जीना विद्यार्थी जी का आजीवन लक्ष्य रहा। प्रेमचन्द जी की जीवन सम्बन्धी दृष्टि इस प्रकार है—

"जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है। अगर तुम हँस नहीं सकते और रो नहीं सकते तो तुम मनुष्य नहीं पत्थर हो। वह ज्ञान जो मानवता को पीस डाले, ज्ञान नहीं कोल्हू है।"

जीने की इसी कला ने, उन्हें राजनीतिक कर्मों के साथ साहित्यमर्मी बना दिया था। साहित्य उनके लिए राजनीतिक धुँआधार प्रचार अथवा मात्र वाणी विलास का साधन नहीं था। साहित्य उनके लिए ज्ञान रंजन या मनोरंजन नहीं, मानव परिमार्जन का विशाल सरोवर था। पंक मुक्त सरोवर की भावना उनकी "मानव कल्पना" से मेल नहीं खाती थी। मानवीय दुर्बलताओं का कीचड़ तो रहेगा ही, पर हमारी दृष्टि पंकज और स्वच्छ नीर पर होनी चाहिए। साहित्य, राजनीति, धर्म, दर्शन, समाज, सत्ता, किसी का भी बंधन "मानव" के लिए उन्हें स्वीकार नहीं था। "मानव" के मौलिक अधिकारों की रक्षा, उनके लिए पुनीत कर्तव्य था। "मानवीय स्वत्व" नामक लेख में उन्होंने स्पष्ट किया था—"किसी भी युग में किसी भी मनुष्य ने अपने स्वत्वों का अपहरण होते देखकर क्षुद्रता की छाप लगाये फिरना स्वीकार नहीं किया। रक्तांजलियों से तर्पण किये गये हैं, मानवीयता की वेदी और स्वाधीनता के स्वत्वों

का पवित्र वार प्राप्त किया गया है। मनुष्य की स्वाधीन आत्मा ने ठोकरों से कुचले हुए साँप की तरह फुफकार मार-मार कर पराधीन शरीर को भले ही छोड़ दिया हो पर अपने स्वत्वों का अपहरण कभी सहन नहीं किया।"

(प्रताप, ३० जून १९१९)

इस तरह मानवता का पोषण, रक्षण और पूजन उनके लिए साहित्य का अभीष्ट था। साहित्य में यदि मानवीय दुर्बलताओं का निरूपण है तो उसे प्रासंगिक होना चाहिए। साहित्यकार, रचना तथा पाठक, किसी के लिए यह मूलाधार नहीं होना चाहिए। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के गोरखपुर अधिवेशन में, विद्यार्थी जी ने इस सम्बन्ध में अपना स्पष्ट मत प्रकट किया था। अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने इस प्रश्न को उठाते हुए कहा था—

"हिन्दी साहित्य के एक विशेष अंग पर भी मुझे अपना कुछ मत प्रकट करना आवश्यक जँचता है। इस समय घासलेटी साहित्य की चर्चा बहुत जोरों से उठ रही है।[1] जो साहित्य यथार्थ में सार्वजनिक कुरुचि की वृद्धि करने वाला है, वह निःसन्देह त्याज्य और भर्त्सनीय होना चाहिए किन्तु उसके अस्तित्व और वृद्धि का अन्त सहज नहीं है...हमें उससे तनिक भी घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। वह किस देश और किस भाषा में नहीं है। जिस प्रकार से शरीर में अनेक सुन्दर अवयवों और शक्तियों के होते हुए, उसमें मलमूत्र जैसे गन्दे पदार्थ भी होते हैं, उसी प्रकार साहित्य भी होता है। इस प्रकार का साहित्य कहीं भी भद्र समाज में आदरणीय या ग्राह्य नहीं समझा जा सकता। बस, इस साहित्य के प्रति आपकी ऐसी ही भावना यथेष्ट है।"

साहित्य के साथ भाषा सम्बन्धी उनके विचार बड़े स्पष्ट, दूरगामी एवं माननीय हैं। केवल हिन्दी ही नहीं, समस्त भारतीय भाषाओं के उत्थान तथा प्रतिनिधित्व के प्रति उपेक्षात्मक वृत्ति सम्बन्धी उनकी चेतावनी कितनी दूरगामी थी, इसका महत्त्व आज स्वाधीन भारत में प्रमाणित हो गया है। इतना ही नहीं अंग्रेजी के एकाधिकार और उसकी गुलामी से मुक्त होने का उन्होंने बार-बार आह्वान किया था। इसके पीछे उनका गहरा चिंतन था। उनके मतानुसार मात्र अंग्रेजी के माध्यम से ही हम विश्व के विराट क्षितिज से सम्बन्ध नहीं जोड़ सकेंगे। इसके लिए जर्मन, फ्रेंच आदि अन्य यूरोपीय भाषाओं से भी हमें लाभान्वित होना चाहिए। उन्हीं के शब्दों में "...हम संसार भर की वस्तुओं को केवल अंग्रेजी चश्मे से देखने लगे हैं।...मैं अन्य भाषाओं से कुछ भी लेने, शब्दों और वाक्यों के लेने तक के विरुद्ध नहीं हूँ किन्तु अपनी भाषा के व्यक्तित्व की रक्षा का विचार रखते हुए, मैं कुछ लेना चाहता हूँ, इसे खोकर नहीं। हमें विदेशी भाषाओं में फ्रेंच और जर्मन आदि भाषाओं के भण्डार तक पहुँचने का यत्न करना चाहिए। हमें संस्कृत, पाली और उर्दू की ओर भी दृष्टि डालना चाहिए।

---

१. यह विवाद तत्कालीन 'विशाल भारत' सम्पादक तथा सुप्रसिद्ध पत्रकार पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने उठाया था।

संस्कृत और पाली के अनेक ग्रंथ और उनका पौराणिक बौद्ध और जैन साहित्य हिन्दी के रूप में आकर हमारे बौद्धिक जीवन के लिए बहुत श्रेयस्कर हो सकता है।''

इसी तरह कांग्रेस के आरम्भिक काल में ही उन्होंने, स्वाधीनता तथा लोक सेवा की भावनाओं को जन सामान्य तक पहुँचाने के लिए देशी भाषाओं के उपयोग की आवश्यकता प्रतिपादित की थी। इस प्रतिपादन के पीछे भी उनकी आस्थापूर्ण दूर-गामी दृष्टि थी। सन् १९१४ में उन्होंने लिखा था—''हमारे योग्य राजनीतिज्ञों ने अपनी योग्यता की बदौलत अपने पैरों पर कुल्हाड़ी चलाई है। आप लोग बसते तो इस देश में हैं, अन्न-जल यहीं का पचाते हैं और बातें भी यहीं की करते हैं लेकिन बोले-चालेंगे और लिखे-पढ़ेंगे उस भाषा में, जो सात समुद्र पार की है और जिसे मुश्किल से देश के मुट्ठी-भर आदमी समझ सकते हैं। यह कोई बहाना नहीं है कि शासक देशी भाषा नहीं जानते। शासक देशी भाषा जानेंगे, उन्हें उसे जानना पड़ेगा।...हमारा अटल विश्वास है और वह दिन आवेगा कि वे लोग भी इस विश्वास को ग्रहण करेंगे, जो आज इससे घृणा करते हैं। जब इन सभाओं की कार्यवाही देशी भाषा में होने लगेगी तब लोगों में राजनैतिक विषयों के जानने की रुचि अधिक बढ़ेगी।''

(प्रताप, १२ अप्रैल १९१४)

देशी भाषाओं से उनका आशय समस्त भारतीय भाषाओं से था। सभी भाषाओं को समान रूप मे विकसित होने का अवसर मिले, यह उनकी इच्छा थी। अंग्रेजी के स्थान पर इन भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया जाय, इसके लिए उन्होंने बार-बार जोर दिया था। उनकी दृष्टि में भारतीय भाषाओं के मार्ग में सबसे बड़ा अवरोध अंग्रेजी आसक्ति का है। विचारणीय तथ्य है कि इस सन्दर्भ में उन्होंने अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी प्रतिष्ठित करने पर जोर नहीं दिया। उनके विचार में जब तक अंग्रेजी भाषा नहीं हटती, तब तक हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के उचित स्थान पाने का प्रश्न निरर्थक है। यह बिन्दु भी विद्यार्थी जी की दूरदर्शिता का प्रतीक है। स्वतन्त्र भारत के बारह वर्षों बाद अनूठे चिंतक डॉ० राम मनोहर लोहिया ने विद्यार्थी जी के इसी विचार का प्रबल समर्थन किया था। डॉ० लोहिया ने कहा था—''हिन्दी तो अपने जमाने में आ जायगी, उसके बारे में मुझको पूरा यकीन है।...इस वक्त खाली सवाल है अंग्रेजी खत्म हो और उसकी जगह पर देश की अपनी देशी भाषायें आ जांय। अगर आंध्र का काम तेलगू में चलने लगे, तमिलनाडू का काम तमिल में चलने लगे तो मुझे पूरा यकीन है...कि बाद में सब ठीक रास्ते पर आ जायेंगे, असल चीज है अंग्रेजी को हटाओ।''

राष्ट्रीय शिक्षा के स्वरूप पर विचार करते हुए, विद्यार्थी जी ने इसी तत्व का प्रतिपादन सन् १९१८ में किया था। देशी भाषा बनाम अंग्रेजी विषय पर उन्होंने 'प्रताप' में लिखा था—''देशी भाषा और अंग्रेजी भाषा का झगड़ा बड़ा टेढ़ा है।...अंग्रेजी का महत्व चाहे कितना ही क्यों न हो, परन्तु वह देश के आदमियों की जबान कभी न हो सकेगी। जब ऐसा नहीं होगा, तब केवल उसी के द्वारा देश की राजनीतिक, मानसिक और सामाजिक उन्नति का होना सम्भव समझना व्यर्थ है। देश के पढ़े-लिखे

आदमियों में से बहुतों में यही खयाल भरा हुआ है कि उन्नति और योग्यता की प्राप्ति अंग्रेजी पढ़े हुए लोगों तक ही परिमित है। यह उनकी भूल है। उन्हें मालूम होना चाहिए कि संसार के बहुत से देशों में अंग्रेजी का प्रचार नहीं है, परन्तु चरित्र ऊँचे होने के अतिरिक्त वे ज्ञान और शिष्टता में भी काफी ऊँचे पाये जाते हैं।"

जहाँ तक हिन्दी का प्रश्न है, इसे वे अखिल भारतीय स्तर पर, समस्त जन समाज के सुख-दुःख की प्रवाहिका के रूप में मानते थे। हिन्दी उनके लिये देश-प्रेम, राष्ट्र-सेवा, त्याग एवं तपस्या की कर्म भूमि थी। भारतवर्ष जैसे विशाल देश को एक सूत्र में बाँधने वाली राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी विकास की उनकी कल्पना थी। राज-सत्ता से जुड़कर तोड़क और चारण भाषा के रूप में विवादग्रस्त हिन्दी उनकी कल्पना से परे थी। उसे वे बत्तीस करोड़ (तत्कालीन भारत की जनसंख्या) भारतीयों को बलशाली तथा गौरवपूर्ण बनाने का सशक्त माध्यम समझते थे। उन्होंने आशा की थी "उसके सूर्य की रश्मियाँ दूर-दूर तक समस्त देशों में पड़कर भारतीय संस्कृति, ज्ञान और कला का सन्देश पहुँचायेंगी।...(इस) भाषा में दिये गये भाषण संसार की विविध रंग-स्थलियों में गुंजरित होने लगेंगे और उनसे मनुष्य जाति मात्र की गति-मति पर प्रभाव पड़ता हुआ दिखाई पड़ेगा।" इस प्रसंग में उनके विचारक और भविष्य-द्रष्टा होने की बात फिर याद आ जाती है। आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व (सन् १९२९ में) उन्होंने विश्वास प्रकट किया था कि "हिन्दी को विश्व-भाषा के रूप मे मान्यता मिलेगी।" गोरखपुर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने घोषित किया था—"मुझे तो वह दिन दूर नहीं दिखाई देता, जब हिन्दी साहित्य अपने सौष्ठव के कारण साहित्य-जगत् में अपना विशेष स्थान प्राप्त करेगा और हिन्दी भारतवर्ष ऐसे विशाल देश की राष्ट्रभाषा की हैसियत से, न केवल एशिया महाद्वीप के राष्ट्रों की पंचायत में एक साधारण भाषा के समान केवल बोली भर जायगी किन्तु अपने बल से संसार की बड़ी-बड़ी समस्याओं पर भरपूर प्रभाव डालेगी और उसके कारण अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न बिगड़ा और बना करेंगे।"

गौतम बुद्ध के जनपद सिद्ध योगी गोरखनाथ की नगरी, गोरखपुर की वायु में खो जाने वाले, विद्यार्थी जी के ये स्वर, भविष्य के इतिहास-पृष्ठों में कालजयी अक्षर बनेंगे, यह किसे विश्वास था ? एक-एक स्वर, दिग-दिगन्त की गूंज में एक-एक बीज बनकर, लगभग अर्द्ध शताब्दी के बाद, अंकुर-अंकुर से पौधा बनकर विश्व क्षितिज पर लहरायेंगे। इसे कौन जानता था। उन्हीं में से एक बीज १३ जनवरी १९७५ को नागपुर में विश्व हिन्दी सम्मेलन के रूप में अंकुर बन कर मुस्करा पड़ा। यह मुस्कराहट झलक पड़ी मराठी भाषी किन्तु हिन्दी के लिये समर्पित स्वर्गीय श्री अनन्त गोपाल शेवडे के संकल्प में। यह संकल्प विश्व के इकतीस देशों तथा देश के लगभग तीन हजार हिन्दी-प्रेमियों के कंठों से निनाद कर उठा संयुक्त राष्ट्र संघ में हिन्दी को मान्यता देने के लिये। यदि इतिहास का करवट बदलना सत्य है तो निश्चय ही इस पौधे ने स्मरण किया होगा. सहस्रों वर्ष पूर्व सम्राट हर्षवर्धन द्वारा आयोजित पुनीत प्रयाग के

कुंभ पर्व को। इसी कुंभ के एक विश्व यात्री, हिन्दी विश्व के एक उभरते-चमकते नक्षत्र लेखक, भारत-मारीशस स्नेह-सूत्र के एक नन्हें किन्तु अत्यन्त सशक्त बिन्दु श्री दयानन्द वसन्तराय ने इस संकल्प को मंच पर वाणी मंत्र से बिद्ध किया। हिन्दी के अत्यन्त निःस्पृह सेवी किन्तु विस्मृति में खो जाने वाले पंडित तोताराम जी की स्मृति के प्रतीक, पूर्वजों के पुण्य पुरुष के वन्दनकर्ता, फिजी के लेखक और तरुण हिन्दी सेवी श्री विवेकानन्द शर्मा तथा उनके जैसे अनेक विश्व यात्रियों ने इस संकल्प को उस दिन बलिदानी अन्तर्भाव से सिद्ध किया था।

जिस हिन्दी को विश्व सिंहासन पर आसीन होने की ऐतिहासिक आस्था विद्यार्थी जी ने प्रकट की थी, वह आस्था-यात्रा अर्धशती के उपरान्त कालचक्र से निकट संघर्ष करती हुई, सिन्धु गर्जन को ललकारती हुई, २८ अगस्त १९७६ को एक मंजिल पर पहुँची, लघु भारत मारीशस द्वीप में। एक दिन व्यक्त की गई अमर शहीद विद्यार्थी जी की ऐतिहासिक आकांक्षा पूरे ४७ वर्षों के बाद इसी मंजिल में साकार हुई। उन्होंने कहा था—"ऐसा भासित होता है कि प्रवासी भाई मातृभाषा के विस्मरण के साथ ही देश और उसकी संस्कृति का भी विस्मरण कर बैठेंगे। अमेरिका, अफ्रीका, कैनिया, फिजी, गियाना और मारीशस आदि में अपने भाईयों तक हिन्दी का सन्देश पहुँचाना भारतवर्ष की संस्कृति की रक्षा करना है।" समय का कैसा संयोग है। विद्यार्थी जी की ऐतिहासिक घोषणा और आकांक्षा को रूपायित किया मारीशस के प्रधान मंत्री सर शिवसागर रामगुलाम ने द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन आयोजन तथा निम्नांकित उद्‌गारों द्वारा। "विश्व हिन्दी सम्मेलन के द्वितीय मंच के रूप में मारीशस का चुना जाना हमारे लिये सौभाग्य की बात है। सन् १९०१ में महात्मा गाँधी यहाँ आये थे और प्रवासियों से शिक्षा और राजनीति में विशेष रुचि लेने का आग्रह किया था। उसी आग्रह का सुफल है कि आज हम स्वाधीन हैं और अपनी भाषा से जुड़े हैं...हमारे प्रतापी पुरुषों के प्रति हमारा हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन है।"

विद्यार्थी जी ने हिन्दी को विश्व पंचायत में पहुँचकर "समस्याओं के निवारण तथा मानवीय स्थितियों को प्रभावित" करने की शक्ति बताया था। जिस मारीशस, फिजी, केनिया के प्रवासी भाईयों के लिये विद्यार्थी जी की लेखनी ने बार-बार आवाज उठाई थी, उसी मारीशस में अर्धशती के बाद हिन्दी के विश्व पंचायती स्वरूप और समग्र मानव सेवा की आस्था को प्राणवान बना दिया, भारतीय संस्कृति के अध्येता, कल्हण के सौन्दर्य स्वरों में आकंठ डूबने वाले डोंगरी के कवि आदरणीय श्री कृष्णसिंह जी ने। उन्होंने हिन्दी के इसी पंचायती स्वरूप और मानव सेवीवृत्ति का इन शब्दों मे मूल्यांकन किया था—"वस्तुतः सब भाषाओं में अधिक महत्वपूर्ण मानव जाति तथा उसका भविष्य है और हर भाषा की यह कसौटी है कि वह कहाँ तक उस भविष्य को उज्ज्वल बनाने में योगदान कर पाती है। मेरा विश्वास है कि हिन्दी इस कार्य मे अग्रसर रहेगी।" और अंततः विश्व पंचायत में हिन्दी के लिये द्वार खोला ४ अक्टूबर १९७७ को भारत के तत्कालीन विदेश मंत्री श्री अटलबिहारी बाजपेयी ने। उन्होंने

संयुक्त राष्ट्र संघ में सर्वप्रथम हिन्दी में अपना भाषण देकर हिन्दी की विश्व यात्रा को मंजिल के बहुत समीप पहुँचा दिया। अंततः विद्यार्थी जी की १९२९ की उद्घोषणा पूर्णतः नहीं तो आंशिक रूप में सत्य हो उठी है।

विद्यार्थी जी की चिंतन दिशाओं का उल्लेख किया जा चुका है। उनकी विचारधारा का प्रेरक स्रोत क्या था ? उनके विचारों पर किसकी छाया थी ? जहाँ तक उनके राजनीतिक विचारों का सम्बन्ध है, निश्चित ही उन पर महात्मा गाँधी का असंदिग्ध प्रभाव था। कई विषयों पर गाँधी जी से असहमत होते हुए भी, वे गाँधी जी के सच्चे भक्त थे। विद्यालयों के बहिष्कार सम्बन्धी गाँधी जी की नीति की उन्होंने 'प्रताप' में आलोचना की थी किन्तु गाँधी जी के प्रति उनकी श्रद्धा असीम और अखण्ड थी। विभिन्न अवसरों पर उन्होंने इसे स्पष्ट रूप में व्यक्त किया था। उनकी दृष्टि में "महात्मा गाँधी एक व्यक्ति नहीं है। वे इस देश की आत्मा के स्वरूप हैं।" इसी प्रकार उन्होंने एक अवसर पर घोषित किया था "ऊपर, ऊँचे शिखर पर सब को बराबर ले जाने की भावना जिस लोकोत्तर हृदय में है और अपने काम में जिस महापुरुष ने सहस्रों कठिनाईयों और असंभावनाओं का सामना किया है, वह लोकोत्तर हृदय, वह महापुरुष, इन सब कठिनाईयों के झेलने के बाद भी, हिमालय की तरह अचल, अटल और अडिग है।"

सन् १९२५ में गाँधी जी के उपवास का कुछ लोगों ने तीव्र विरोध किया था। उस अवसर पर विद्यार्थी जी द्वारा व्यक्त श्रद्धा अत्यन्त गहरी और संवेदनशील है। उन्हीं के शब्दों में "मोहन ने अपने सम्मोहन मंत्र का वार संसार वासी लोगों पर किया है।...युग के युग बीत गये, हमारे भाग्य से आज ऐसी विभूति आई है।...जी में आये तो उसे काँटों का मुकुट पहना कर सूली पर टाँग दीजिये, पर एक बात न भूलिये—ऐसा पुरुष, जिसकी चरण-रज के एक-एक कण पर जीवन निछावर कर दिया जाय, फिर न मिलेगा। गाँधीवाद की महिमा आज समझ में नहीं आती पर भविष्य इसे समझेगा।"

(प्रताप, ३० नवम्बर १९२५)

राजनीतिक विचारों के अतिरिक्त अन्य विचारों में भी गाँधी जी ने उन्हें प्रभावित किया था। इस प्रभावशीलता के बाद भी, कई प्रसंगों में विद्यार्थी जी के मौलिक विचार थे। जब देश स्वाधीन नहीं था, लोकतंत्र तथा समाजवाद की चर्चा तेजी पर नहीं थी, तब उन्होंने स्वाधीन भारत के लिये इन दोनों की आवश्यकता अनुभव की थी। वस्तुतः इन विचारों के लिये उनका व्यक्तित्व स्वतः प्रेरक था। व्यक्तित्व की दृढ़ता, संघर्षशीलता एवं जीवन्तता ही स्वतंत्र तथा गहरे विचारों की जननी होती है। उनके व्यक्तित्व का विस्तृत विश्लेषण किया जा चुका है किन्तु, संक्षेप में, उसका सही परिचय सुश्री महादेवी वर्मा की निम्नांकित पंक्तियों में है—

विरती रहे रात ।
न पथ रूँधती ये गहनतम शिलायें
न गति रोक पातीं पिघल मिल दिशायें,
न आँसू गिने, औ न काँटे सँजोये,
न पगचाप दिग्भ्रान्त उच्छवास खोये,
मुझे भेंटता हर पलक पात में प्रात ।

उनके विचार-जगत् में ऐसा ही व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित है ।

देश-प्रेम और राष्ट्रीयता को उन्होंने सर्वत्र सर्वोच्च प्राथमिकता दी है। राष्ट्रीयता उनके लिये किसी संकीर्ण अर्थ और सीमित दायरे की वस्तु नहीं थी। इसमें उनके लिये समग्र देश समाहित था और ऐसा देश, जो पूर्ण बंधनमुक्त हो। उन्होंने इस विषय पर २१ जून १६१५ के 'प्रताप' में लिखा था—"राष्ट्रीयता जातीयता नहीं है। राष्ट्रीयता धार्मिक सिद्धान्तों का दायरा नहीं है। राष्ट्रीयता सामाजिक बन्धनों का घेरा नहीं है। राष्ट्रीयता का जन्म देश के स्वरूप से होता है। उसकी सीमायें देश की सीमायें हैं। राष्ट्र पराधीनता के पालने में नहीं पलता। स्वाधीन देश ही राष्ट्रों की भूमि है।" उनके अनुसार राष्ट्रीयता जाति, वर्ण, रंग, रूप सब से ऊपर है। वह देश की सर्वोच्च उन्नति की एक पुनीत भावना है। इसके अन्तर्गत किसी भी सम्प्रदाय विशेष की कल्पना नहीं की जा सकती। इसीलिये मुस्लिम सम्प्रदाय के प्रति तुष्टीकरण की नीति का उन्होंने सदैव विरोध किया। इसी तरह हिन्दुओं की सम्प्रदाय मूलक राष्ट्रीय वृत्ति का उन्होंने उग्र विरोध किया। उन्हीं के शब्दों में "कुछ लोग "हिन्दू राष्ट्र", "हिन्दू राष्ट्र" चिल्लाते हैं। हमें क्षमा किया जाय, यदि हम इस बात पर जोर दें कि वे एक बड़ी भारी भूल कर रहे हैं।...उन्होंने अभी तक "राष्ट्र" शब्द के अर्थ ही नहीं समझे। हम भविष्यवक्ता नहीं, पर अवस्था हमसे कहती है कि अब संसार में हिन्दू राष्ट्र नहीं हो सकता।"

इस संबंध में जहाँ उनके विचार बड़े ही स्पष्ट हैं, वहीं उनकी दृष्टि "इतिहा[illegible] तथा काल" की अनेक शताब्दियों को पार करके सुदूर भविष्य पर टिकती है। स्वाधीन भारत की वर्तमान राजनीतिक स्थिति के सन्दर्भ में उनका दूरगामी संके[illegible] आज भीति पर अंकित अक्षरों की भाँति दिखाई पड़ता है। उन्होंने स्वाधीन भारत [illegible] लिये कहा था—"यदि भारत स्वाधीन हो जाय तो भी हिन्दू ही भारतीय राष्ट्र के स[illegible] कुछ न होंगे। जो ऐसा समझते हैं, हृदय से या केवल लोगों को प्रसन्न करने के [illegible] वे भूल कर रहे हैं और देश को हानि पहुँचा रहे हैं। वे लोग भी भूल कर रहे हैं टर्की या काबुल, मक्का या जेद्दा का स्वप्न देखते हैं क्योंकि वे इनकी जन्मभूमि नहीं... उनकी कब्रें इसी देश में बनेंगी और उनके मरसिये, यदि वे इस योग्य होंगे तो, [illegible] देश में गायें जायेंगे।"

जिस प्रकार राष्ट्रीयता का आशय उनके लिये समग्र विभेदों से मुक्त भ[illegible] देश तथा उसकी भक्ति की एक निष्ठभावना थी, उसी प्रकार, राजनीतिक स्वतं[illegible]

उनके अनुसार समस्त देशवासियों को समान अवसर देने तथा सत्ता की समान भागीदारी थी। इस समान भागीदारी में प्रजातंत्र, आर्थिक समानता तथा नागरिक स्वतंत्रता की मूल भावना समाहित थी। उन्होंने स्वाधीन भारत की कल्पना में चिन्तन का रंग भरते हुए लिखा था—"हम स्वाधीन हों, हमारे करोड़ों भाईयों का भाग्य एक व्यक्ति या व्यक्तियों के एक या दो समूह के हाथ में न रहे। नवयुवकों ! नवयुग का सन्देश है हर विभाग में तुम अपने प्रत्येक देश भाई के आगे बढ़ने के लिये मार्ग प्रशस्त करो, राजनैतिक बंधनों को तोड़ो तो धार्मिक आडम्बर भी तुम्हारे बाधक न रहें, सत्ताधारियों की सत्ता टूटे तो उस घृणा और उपेक्षा का बांध भी टूट जाये, जो करोड़ों आत्माओं को तुमसे विलग रखता है, किसी भी वर्ग की महत्ता या किसी जाति की श्रेष्ठता को एकमात्र सत्ताधारी न मानकर विश्व संचालिनी महाशक्ति अखिल विश्व बन्धुत्व और उसकी सत्ता ही की ड्योढ़ी पर अटल भाव से अलग जगाओ।"

राष्ट्रीयता का प्रतीक, राष्ट्र विद्यार्थी जी के लिये, केवल भौगोलिक, ऐतिहासिक अथवा राजनीतिक बिन्दुओं का नाम नहीं था। राष्ट्र उनके लिये जीवन था, जागरण था, निरन्तर चेतना का शंखनाद था। इसकी शक्ति के स्रोत करोड़ों ग्रामीणजन, गरीबों की झोपड़ियाँ, मजदूरों की तकलीफें तथा प्रत्येक नागरिक के स्वतंत्रता संबंधी अधिकार थे। देश के दो प्रमुख वर्ग, किसान और मजदूरों को सर्वोच्च प्राथमिकता देने का प्रश्न उन्होंने अर्धशती पूर्व बार-बार उठाया था। इनकी आर्थिक दुर्दशा समाप्त करने के लिये उन्हे साम्यवाद, समाजवाद, गाँधीवाद सब स्वीकार था। रूस तथा पश्चिम से उठने वाली साम्यवादी समाजवादी क्रान्तियों का उन्होंने स्वागत किया था किन्तु उनका विश्वास हिंसक क्रान्ति में नहीं था। "बोलशेविक क्रान्ति" के खतरों की उन्होंने कई अवसरों पर चर्चा की थी। उनका विचार था कि इस देश की मिट्टी "साम्यवाद" को मूल रूप में स्वीकार नहीं कर सकेगी किन्तु इससे उत्पन्न परिवर्तनों की आवश्यकता देश को रहेगी। इस रक्त क्रांति की सामाजिक उपयोगिता में सन्देह था।

इसके द्वारा विश्व शान्ति तथा लोक कल्याण की कल्पना उन्हें "दूर के ढोल" जैसी लगती थी। उनके विचार में विश्व की मूल समस्या गरीबी और अमीरी का विस्तार था। इस विस्तार को सीमित या समाप्त करना ही समस्या का वास्तविक समाधान हो सकता था। रूस की रक्त क्रान्ति का उल्लेख करते हुए उन्होंने २ फरवरी १९१० के 'प्रताप' में लिखा था—"इस समय संसार में धन की उपासना बेतरह हो रही है···इसलिये कि समाज में विषमता न फैले, इसलिये कि एक ओर मुट्ठी भर आदमी बेहतर अमीर न हों, और दूसरी ओर असंख्य आदमी खाने-पीने और ओढ़ने-पहनने तक के लिये न तरसें, इसलिये कि गरीब अमीरों की अमीरी देख कर ईर्ष्या से न जलें और पशुता के भावों से न भर जाँय, यह आवश्यक है कि समाज में अत्यन्त गरीबी और अमीरी दोनों अवस्थायें अवांछनीय मान ली जाँय और रियायतों के युग का बिल्कुल अन्त कर दिया जाय।"

रूस में होने वाली बोलशेविक क्रान्ति से भयभीत होने वाले विश्व को उन्होंने

उसी प्रसंग में नेक सलाह दी थी कि इसका मुकाबला पाशविक बल से नहीं किया जा सकता। उन्हीं के शब्दों में "उसका पशु बल के आधार पर मुकाबला करने से कदापि विजय न होगी।" इस संदर्भ में उन्हें गांधी जी की आत्मशुद्धि और प्रायश्चित की भावना सार्थक लगती थी। उनकी राय में शोषक तथा अन्यायी समाज यदि इस भावना को स्वीकार नहीं करेगा तो इसका परिणाम भयंकर और विस्फोटक होगा। आज से साठ वर्ष पूर्व दी गई, उनकी चेतावनी, समूचे विश्व और वर्तमान भारत के लिये उतनी ही सार्थक और ताजी है, जितनी वह देने के समय थी।

उनकी चेतावनी में दूरगामी परिणाम का क्रान्तिमूलक उद्घोष था, शोषक पूंजीपति, साम्राज्यवादी शक्तियों के लिये विनाश के भविष्य का संकेत था और प्रबुद्ध वर्ग के लिये एक नूतन चुनौती थी। दूरदर्शी विद्यार्थी जी की यह चेतावनी, भारत के स्वतंत्र होने पर बड़े-बड़े राजमहलों, सत्ताधारियों के सिंहासनों से वंचित हो जाने के सन्दर्भ में कितनी सटीक सिद्ध हुई है। उन्हीं के शब्दों में "यदि ऐसा नहीं होगा,... तो संसार देखेगा कि मनुष्यों के रक्त की नदी में बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ उतराती और बहती जा रही हैं, ऊँचे उठे हुए सिर धरातल में लोट रहे हैं और गिरे हुए सिर उन पर कहकहा लगा रहे हैं। पग-पग पर उसे आशा और उद्धार की हुङ्कार सुनाई पड़ेगी, परन्तु प्रत्येक क्षण क्रिया और प्रतिक्रिया एक के बाद दूसरा विभीषिकापूर्ण दृश्य उपस्थित करती हुई, उसे सुख और शान्ति से और भी दूर और अति दूर लेती चली जायगी।"

विद्यार्थी जी का विचार था कि प्रत्येक देश और समाज में युगीन परिवर्तन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य होते हैं। ऐसे परिवर्तनों के मार्ग को अवरुद्ध करने का प्रयास मात्र अदूरदर्शिता तथा जड़ता है। परिवर्तन विरोधी ऐसी शक्तियों को उन्होने अन्याय का प्रतीक बताया था। उनकी दृष्टि में समस्त विश्व तथा विशेष रूप से भारतवर्ष की मूल समस्या गरीबी है। धर्म, संस्कृति, साहित्य, कला, विज्ञान की ऊँची कल्पना तब तक एकांगी और निरर्थक है जब तक आम जनता दरिद्रता के अँधेरे से मुक्त नहीं हो जाती। इस दृष्टि से विद्यार्थी जी का दृष्टिकोण साम्यवादी विचारों का प्रतिबिम्ब कहा जा सकता है, किन्तु मूल रूप में उनका दृष्टिकोण प्रत्येक समस्या के सन्दर्भ में घूम-फिर कर गाँधाजी के समीप पहुँच जाता था। गरीबी के अभिशाप को मिटाने का उन्होंने बार-बार आह्वान किया था पर "पशुबल" के प्रयोग को सर्वथा वर्जित माना था। रूस के साम्यवादी प्रवाह के संबंध में उन्होंने स्पष्ट घोषित किया था कि यह तात्कालिक उबाल मात्र नहीं है। इसके मूल में छिपे हुए कारणों और परिस्थितियों की उन्होंने विवेचना की थी। उन्हीं के शब्दों में—"जो लोग जोश और पक्षपात छोड़कर संसार के इस उबाल पर विचार करेंगे, वे कदापि इस बात को स्वीकार न कर सकेंगे कि यह (साम्यवादी क्रान्ति) तत्व शून्य काल प्रवाह मात्र है। समाजों और देशों के वर्षों के संस्कारों और कुकृत्यों के कारण संसार की निम्न श्रेणियाँ अपने प्रति साधु और न्याय-युक्त व्यवहार के किये जाने की आशा से इतनी निराश हो गयी हैं

कि उन्होंने जोर के साथ सिमट कर ऊपर वालों के विरोध के लिये उन्हें कुचल डालने के लिये कमर कस ली है।…प्रश्न तो यह है कि जो उलट-पुलट हो रही है उसके कारण गहरे हैं या थोथे ?"

इसके कारणों को गहरा मानते हुए उन्होंने जो निष्कर्ष प्रस्तुत किया था, वह आज ५० वर्षों के बाद भी मूल्यवान एवं उपयोगी है। वर्तमानयुगीन परिस्थिति के संदर्भ में उनका निष्कर्ष और चिंतन न केवल प्रासंगिक है, वरन् व्यावहारिक भी है। भारतवासियों के लिए उन्होंने भावनापूर्ण शब्दों में इस पर विचार करने की आवश्यकता प्रतिपादित की थी। फरवरी १६२० के साप्ताहिक 'प्रताप' में उन्होंने लिखा था—"समाज में जो परिवर्तन अवश्यम्भावी हो उसका पथ न रोका जाय। घोर दरिद्रता और विषय धनाढ्यता से नमस्कार किया जाय।"

इन शब्दों से उन्होंने स्पष्टतः अति गरीबी और अति अमीरी के बीच सन्तुलन स्थापना का संकेत किया था। इस सन्तुलन के लिए शान्तिमय परिवर्तन की आवश्यकता भी उन्होंने कई प्रसंगों में प्रतिपादित की थी। अपने देश की परिस्थिति पर विचार करते हुए उन्होंने जिन लक्ष्यों का उल्लेख किया था, उनकी झलक आज भारतीय गणतंत्र के संविधान में देखी जा सकती है।

इन लक्ष्यों का उल्लेख करते हुए उन्होंने घोषित किया था, "हम अपने देश के शक्तिशाली लोगों का अत्यन्त विनय के साथ समय के वर्तमान प्रवाह पर, उसकी विषमता और उसकी अटलता पर विचार करने के लिए आह्वान करते हैं। हमें इस सत्य बात से इन्कार करना चाहिए कि हमारे देश में विषमता का राज्य जोरों पर है।…दूसरों के कल्याण के साथ अपने कल्याण का विचार, अधिकारों के साथ कर्तव्य और समय के आदर्श का साथ लेकर लक्ष्य हो सुख का, पर दूसरों की बलि करके नहीं।…इस देश में…नन्हें बच्चे दूध बिना भूखो न मरें, बड़े बच्चे शिक्षा बिना बुद्धू न बने। युवक और युवतियाँ बेकारी और दरिद्रता में दिन न काटें और बूढ़ों को खाने-पीने का कष्ट न हो। क्षुधा मन और शरीर को कृश न होने दे। दमन मन और आत्मा का विकास हरण न करें।…अज्ञान दरिद्रता और निर्बलता में पड़े हुए लोगों का लूट न होने पाये।"

निष्कर्ष रूप में उनका अन्तिम वाक्य इस प्रकार था "धन ही बल न हो और न बल ही धन हो।" इन शब्दों का ध्वनि-संकेत पराधीन भारत में जितना महत्त्वपूर्ण था उससे अधिक मूल्यवान स्वाधीन भारत के लिए है। "पूंजीवाद" की शक्ति और हिंसा की पाशविक शक्ति, इन दोनों को उन्होंने भारत क लिए सर्वथा वर्जित माना था। उनके विचारानुसार इनसे बचते हुए, यदि उपयुक्त लक्ष्यों की ओर देश बढ़ेगा तो वोलशेविज़म साम्यवादी संकट (उन दिनो का बहुचर्चित खतरा) हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगा। इस सम्बन्ध में उन्होंने बड़े आत्म-विश्वास के साथ घोषणा की थी "यदि किसी अंश से भी यह या इस प्रकार का कुछ भी कार्य के रूप में परिणत हो सके तो बोलशेविज़म की विषमता इस देश को कदापि न छू सकेगी।"

इस तरह उनका आत्मविश्वास विश्व तथा देश की गरीबी दूर करने में था। गरीबी, अभाव की दारुण यंत्रणा विद्यार्थी जी ने देखी ही नहीं थी, स्वयं भोगी भी थी। गरीबी उन्मूलन के लिए, जहाँ भी मोर्चा खोलना पड़ता, विद्यार्थी जी तैयार ही नहीं रहते, निरन्तर लड़ने के लिए कृत संकल्प रहते। पराधीन भारत की गरीबी उनके दिल को दहला देती और उनकी आँखों में उस स्वाधीन भारत की कल्पना झूम जाती, जब प्रत्येक नागरिक को रोटी-रोजी और मकान की निश्चित सुविधा होगी। न्याय, समानता, लोकतंत्र, स्वाधीनता उनकी दृष्टि में क्रूर मजाक था, यदि देश के नागरिको को रोटी और रोजी की गारंटी न हो। विविध प्रसंगो में उन्होने इसे बार-बार स्पष्ट किया था। इसके लिये वे विप्लव, क्रान्ति, विद्रोह की सीमा तक जाने के लिए जनता को प्रेरित करना अपना परम पुनीत कर्तव्य मानते थे।

उनके ऐसे विचारों के परिप्रेक्ष्य में, आज सहज कल्पना की जा सकती है कि यदि आज वे जीवित होते तो उनके क्या विचार होते। स्वाधीन भारत को ३० वर्ष से अधिक हो चुके हैं पर उनका प्रश्न आज भी प्रश्न ही बना हुआ है कि क्या अमीरी के विस्तार पर नियंत्रण हुआ और क्या गरीबो का विस्तार क्षेत्र सीमित हुआ ?

उन्होंने देश की स्वाधीनता का सन्देश जन-जन तक पहुँचाते हुये इस समस्या पर विविध कोणों से गंभीर विचार किया था। उन्होंने जिस अमीरी और गरीबी का विश्लेषण किया था, वह वर्तमान भारत के लिये भी प्रासंगिक है। ऐसे ही एक प्रसंग में उन्होंने लिखा था। "किसी भी सांसारिक काम के लिये किसी व्यक्ति को भूखे और नगे रखकर काम करने का उपदेश देना उसके विकास में बाधायें डालना है, संसार को उसकी विकसित शक्तियों के लाभ से वंचित करना है और मनुष्य के स्वाभाविक अधिकारों को छीनना है। खाना और पहनना मनुष्य का उसी प्रकार स्वाभाविक अधिकार है जिस प्रकार सोचना और काम करना उसका स्वाभाविक कर्तव्य।··· संसार के प्रत्येक मनुष्य का यह ईश्वरदत्त अधिकार है कि वह पेट भर खाय और पिये, ऋतुओं के अत्याचार से बचने के लिये उसके तन पर आवश्यक कपड़े हों। मनुष्य के इस अधिकार को न मानना हठधर्मी और अनुदारता है और उसे इससे वंचित करना अन्याय करना।"

भारतवर्ष के विकट तथा सर्वाधिक भयंकर रोग दरिद्रता पर विद्यार्थी जी ने केवल रोष ही नहीं व्यक्त किया, करुणाजनक चित्र ही नहीं खींचा, सारी समस्या पर एक अर्थशास्त्री की भांति विचार किया था। उन्होंने 'प्रताप' के एक स्वाधीनता विशेषांक में विश्व के समृद्ध देशों के आर्थिक आंकड़े देकर सिद्ध किया था कि आर्थिक विपन्नता का मूल कारण जनसंख्या वृद्धि नहीं है। वास्तविक कारण पूंजीपतियो, औद्योगिक घरानों, साम्राज्यवादी देशों की अमानवीय शोषण वृत्ति है। इसी तरह दूसरा प्रमुख कारण अमीरों की बढ़ती अमीरी, उनकी वैभव सम्पन्नता, शाही खर्च और विलासप्रियता है। विपन्नता निवारण के लिये उन्होंने जो सुझाव दिये थे वे इस प्रकार थे, अमीरी पर नियंत्रण, उत्पादन इकाइयों मे श्रमिको की भागीदारी, गरीबो

के प्रति सामाजिक न्याय की नूतन परम्परा तथा शासकीय स्रोतों पर ईमानदारी से कड़ा नियन्त्रण। आज स्वतन्त्र भारत में इन्हीं उपायों की ३० वर्षों से चर्चा हो रही है। अर्थवेत्ता, राजनीतिज्ञों की टोलियाँ, विशेषज्ञों का समुदाय, सत्ताधारियों की घोषणायें इन्हीं बिन्दुओं के आसपास घूमती हैं। ऐसी स्थिति में विद्यार्थी जी के विचारों का महत्व अपने आप सिद्ध होता है और आश्चर्य होता है उनकी कल्पनाशीलता तथा बहुलता पर। एक प्रसंग में उन्होंने लौकिक आवश्यक सुविधाओं तथा आर्थिक स्रोतों को सब के लिये उसी प्रकार मुक्त रखने की पेशकश की थी जैसे प्रकृति ने वायु, प्रकाश, जल तथा धूप को सबके लिये मुक्त कर रखा है। उनके इन विचारों को पढ़कर आचार्य विनोबा भावे के भूदान आन्दोलन की याद आती है, जो स्वाधीन भारत की एक उपलब्धि के रूप में चर्चित है। विद्यार्थी जी के इन विचारों की झलक के लिये उन्हीं की कुछ पंक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं—"संसार में इतनी उपज है कि सभी मनुष्य आनन्द से खा पी सकें और कपड़े पहन सकें। चालाक लोग जानबूझकर मनुष्यों को इस लाभ से वंचित करते हैं—व्यापारी अपने लाभ के कारण और अमीर अपनी अय्याशी और फजूलखर्ची से। जिस धन से गरीब का पेट पलता, उसका तन ढकता, उसके घर में दीपक जलता और उसे बिछौना मिलता, त्योहार का खर्च चलता, लड़कों के खिलौने भी आते वह धन अमीरों के चोचलों में चला जाता है। एक मोटे आदमी के जूतों पर जितना खर्च होता है उतने मे दो-चार आदमी आत्म प्रतिष्ठा के साथ रह सकते हैं।" इसी प्रसंग में उन्होंने आगे लिखा है—"शौकीनी (अमीरी) अपने जूतों की आत्म प्रतिष्ठा को मानव कल्याण से बढ़कर समझती है।···पीड़ित मनुष्यों को उद्धार का संदेश दो। उन्हे पेट भर भोजन मिलने दो। उन्हे आवश्यक कपड़े पाने दो। उन्हें उसी प्रकार हँसी-खुशी से दिन बिताने का मौका दो, जिस प्रकार ऐ भाई, लक्ष्मी के लाल, तुम बिताने की ठसक रखते हो··· और इस आनन्द के लिये जैसे प्रकृति माता ने अपने दरवाजे सबके लिये एक सा खोल रखा है।"

देश की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में विद्यार्थी जी ने दो वर्गों की विशेष वकालत की है, वे हैं किसान और मजदूर। इन दोनों को उन्होंने देश की रीढ़ माना था। जब तक ये कमजोर हैं, उपेक्षित हैं, तब तक आत्मनिर्भर तथा सुखी भारत की कल्पना नही की जा सकती। इन दोनों की हिमायत करते हुये उन्होंने इनकी स्थिति का सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, विश्लेषण किया था। उनके विचार में किसान सच्चे भारत का प्रतीक है क्योंकि असली हिन्दुस्तान गाँवों में ही है। उन्होंने इस बात पर हमेशा विषाद, क्षोभ तथा आक्रोश व्यक्त किया था कि नगरों की अपेक्षा ग्रामों की ओर न तो सरकार का ध्यान है, और न समाज का। पराधीन भारत की विदेशी सरकार नगरों की ओर इसलिये ध्यान देती थी क्योंकि वहाँ तथाकथित पढ़ा-लिखा वर्ग रहता है। इसकी आलोचना से बचने के लिये, इसकी सहानुभूति पाने के लिये सरकार का उधर ध्यान देना स्वाभाविक है, किन्तु समाजसेवियों, राजनैतिक नेताओं के आकर्षण का केन्द्र भी नगरीय जीवन हो, विद्यार्थी जी ने कई अवसरों पर इस पर क्षोभ प्रकट किया था।

उनकी दृष्टि में राजनीतिक शक्ति का विस्तृत एवं अक्षयकोष गाँव है। यदि वहाँ लोक चेतना जाग्रत की जा सके, सामाजिक सेवा का विस्तार किया जा सके तो भारत का स्वाधीनता युद्ध कम समय में जीता जा सकता है। इस आशय का विचार बार-बार 'प्रताप' के सम्पादकीय पृष्ठों में व्यक्त किया गया था। उन्होंने गाँवों को राष्ट्र की नींव के रूप में स्वीकार किया था। २८ जून १९१५ के 'प्रताप' में उन्होंने "राष्ट्र की नींव" शीर्षक लेख में अपने इन विचारों का प्रभावशाली रूप में प्रतिपादन किया था। उन्ही के शब्दों में "राष्ट्र महलों में नही रहता।···राष्ट्र के निवास स्थल अगणित झोपड़े हैं जो गाँवों और पुरवों में फैले हुये आकाश के देदीप्यमान सूर्य और शीतलचन्द्र और तारागण से प्रकृति का सन्देश लेते हैं।···इसलिये राष्ट्र का मंगल और उसकी जड़ मजबूत उस समय तक नहीं हो सकती, जब तक इन अगणित लहलहाते पौधों की जड़ों मे जीवन का मजबूती का जल नहीं सींचा जाता। भारतीय राष्ट्र के निर्माण के लिये उसके गाँवों और पुरवो में जीवन की ज्योति की आवश्यकता है।"

ऐसी ज्योति की आवश्यकता पर बल देते हुये, विद्यार्थी जी के मन में गाँव की दरिद्रता की पीड़ा सर्वप्रथम उठती थी। गाँव की गरीबी का मर्मभेदी चित्र उन्होंने कई बार सार्वजनिक रूप से प्रस्तुत किया था। इन चित्रों में वास्तविकता की कठोर अनुभूति, करुणा एवं दया का मौन आमन्त्रण तथा विचारोत्तेजन की स्वप्रेरित अभिलाषा थी। उन्हीं की लेखनी से प्रस्तुत एक ऐसे चित्र का एक अंश यहाँ उद्धृत है "···शहरों की चमक-दमक को मत देखिये। उन लाखों झोपड़ों की ओर नजर उठाइये, जो गाँवों में हैं और जिनमें देश की आत्मा निवास करती है। देश के इन देवालयों पर घोर दरिद्रता और अज्ञान की काली घटा छाई हुई है।···साधारण समय में इन करोड़ों आदमियों को पेट चलाना कठिन होता है। ताप और शीत के कठिन थपेड़ों को खाने वाले लोगों के पास अपने पेट का अन्न दूसरों के सामने रख देने के पश्चात् इतना भी मुश्किल से बचता है कि वे किसी प्रकार साल के इस छोर को उस छोर तक सँभाल ले जाँय। (वे) वस्त्रहीन, और गृहहीन ! साल के कई मास पेड़ की छालों के आटे, गाजर के टुकड़ों और आम, इमली, जामुन और महुआ पर दिन काटने वालों के चूल्हों में सोना गड़े होने का स्वप्न देखा जाता है।"

ऐसे ग्रामीण समाज की दयनीय स्थिति पर विद्यार्थी जी की लेखनी ने आँसू ही नहीं, क्षोभ तथा आक्रोश की एक धधकती हुई अग्नि का अनुभव कराया था। इसके साक्षी स्वयं उन्हीं के ये शब्द हैं—"जिनके लिये आनन्द और सुख स्वप्न है, जिनके लिये जीवन का अर्थ इसके सिवा कुछ नहीं कि पिल्ले की भाँति आँख मूँदे जन्म लो—ऐड़ियाँ रगड़-रगड़ कर उसे किसी प्रकार व्यतीत करो और समय से पहले हल्के ही से एक दिन कुत्ते की भाँति मर जाओ, कोई हृदय से गम करनेवाला नहीं और अधिक जीने से किसी को कोई राहत पहुँचने वाली नहीं।"

अभावग्रस्त, दरिद्रतात्रस्त जिस ग्रामीण जीवन का चित्र यहाँ प्रस्तुत किया है वह ६० वर्ष पूर्व पराधीन भारत का है। स्वभावतः प्रश्न उठता है क्या स्वतन्त्र भारत

भी यही स्थिति है ? उत्तर बड़ा स्पष्ट है। निस्सन्देह ग्रामीण जीवन में सुधार और प्रगति के कुछ अवसर सुलभ हो गये हैं किन्तु सम्पूर्ण देश के विभिन्न अविकसित अभाव-ग्रस्त क्षेत्रों का चित्र आज भी उतना ही करुण और निराशाजनक है जितना विद्यार्थी जी द्वारा प्रस्तुत चित्र में। इस तथ्य का उल्लेख यहाँ रोचक होगा कि देश के प्रथम प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू के कार्यकाल सम्भवतः १९६२ में पूर्वी उत्तर प्रदेश की विपन्नता का करुण चित्र रखते हुये एक संसद सदस्य ने जानकारी दी थी कि वहाँ अभी भी इतनी गरीबी है कि जन समुदाय का एक भाग पशुओं के गोबर में मिलने वाले अन्न के दानों को बीन कर गुजारा करने पर मजबूर रहता है। इसी सूचना से द्रवित होकर पं० नेहरू ने उस जनपद की गरीबी उन्मूलन के सुझाव हेतु पटेल आयोग का गठन किया था। इसी प्रकार विद्यार्थी जी के प्रस्तुत चित्र की प्रासंगिकता का एक प्रसारण दिसम्बर १९७८ में जनता पार्टी के अध्यक्ष श्री चन्द्रशेखर जी ने भोपाल में आचार्य नरेन्द्रदेव पुस्तकालय तथा स्मारक भवन के उद्‌घाटन के अवसर पर यह कहते हुये दिया था कि लगभग बीस वर्षों के विकास प्रयास के बावजूद देश की पचास प्रतिशत जनता गरीबी की रेखा के नीचे पल रही है। अस्तु।

यद्यपि गाँव में बसने वाले विविध वर्गों के लोग होते हैं किन्तु उनमें सर्वप्रधान किसान ही हैं। किसानों की गरीबी दूर करके, ग्रामीण समाज की नवरचना के लिये विद्यार्थी जी ने उन्हें संगठित करके रचनात्मक कार्यों में लगाने की आवश्यकता पर बराबर जोर दिया था। उनका विश्वास था, यदि किसानों को आर्थिक प्रगति के लिये ध्यान देकर उन्हें राष्ट्रीय कार्यों के लिये तैयार किया जाय, तो यह देश की एक महत् उपलब्धि होगी। स्वाधीन भारत में किसानों की महत् भूमिका की संभावना पर भी विद्यार्थी जी ने विचार किया था। इस सिलसिले में उन्होंने तत्कालीन कांग्रेस पार्टी की तीव्र आलोचना भी की थी कि उसने अभी तक किसानों के संगठन तथा उनके कष्ट निवारण पर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया। किसानों को अधिक समय तक उपेक्षित रख-कर, राष्ट्र आगे नहीं बढ़ सकता, इसका विद्यार्थी जी को विश्वास था। उन्हें यह भी विश्वास था कि असहाय, अपंग, दलित, शोषित कृषक समाज एक दिन जाग्रत होगा। यह तभी संभव होगा, जब देश स्वतन्त्र होगा। इस सम्बन्ध में उनकी निम्नांकित पंक्तियाँ विशेष रूप से विचारणीय हैं—"वे त्रिशंकु तो हैं ही नहीं, जो उन्नति और अवनति के बीच में लटके रहें। नहीं साहब, वे ययाति हैं जो अपने संतोष, आज्ञापालन, इत्यादि गुणों के कारण उन्नति-स्वर्ग से अवनति के गर्त में ढकेल दिये गये हैं।...देश बन्धुओं को अपनी सहृदयता और सज्जनता निष्क्रिय नहीं रखनी चाहिये। उन्हें अकर्म-ण्यता छोड़कर असहाय और दीनहीन कृषकों की समस्त अन्यायों से रक्षा करने के लिये मैदान में आ जाना चाहिये।...अब यह दुर्व्यवस्था बहुत दिनों तक नहीं रह सकती। अश्वत्थामा अब खड़िया घोल कर नहीं बहलाया जा सकता, उसे दूध का ज्ञान हो गया है।...कृषकों का उद्धार करने का एक मात्र उपाय यह है कि देश के निवासियों के हाथों में कुछ कर-धर सकने का अधिकार हो और यह अधिकार उस

समय तक न होगा, जब तक हमें स्वराज्य प्राप्त न होगा।"

आज स्वतन्त्र भारत में अब किसानों की शक्ति का आकलन किया जा रहा है। देश के विभिन्न राजनीतिक दल और स्वयं सरकार उनके हितों पर ध्यान देने में सचेष्ट है। कारण बड़ा स्पष्ट है। संगठित किसानों की शक्ति का धीरे-धीरे सबको आभास हो रहा है। विद्यार्थी जी ने इस सोई शक्ति को न केवल पहचाना था, वरन् उसकी निरन्तर उपेक्षा के प्रतिकूल परिणाम की भी घोषणा की थी। उन्होंने २५ जनवरी १९२६ के 'प्रताप' में यह स्पष्ट किया था, "देश के हजारों देहातों के अगणित झोपड़ों में देश की बडी भारी शक्ति दबी हुई पडी है। देश के अग्रसर कार्यकर्ता देश के नाम की दुहाइयाँ देते हैं और संसार के सामने लम्बे-लम्बे दावे पेश करते हैं किन्तु अभी तक उन्होंने इस बात का कोई सतत उद्योग नहीं किया कि दबी हुई शक्ति को विकसित करके उसे वे देश के लीला क्षेत्र में लावें।...यदि यह अनन्त शक्ति यों ही पड़ी रही, दरिद्रता और अन्याय का यों ही शिकार बनती रही, तो बारूद के ढेर की भाँति केवल एक चिनगारी द्वारा देश भर को अग्निमय कर देगी।"

इस देश की अपरिमित शक्ति किसानों के रूप में है। इस शक्ति का सदुपयोग या दुरुपयोग राष्ट्र की रचना या विनाश से सीधा सम्बन्ध रखती है। इस तथ्य को विद्यार्थी जी ने बार-बार दुहराया था। इस पर ध्यान देने के लिये जहाँ उन्होंने राजनेताओं से आग्रह किया था, वहाँ तत्कालीन ब्रिटिश शासन को भी परामर्श दिया था। इस परामर्श के साथ, उन्होंने भारतीय किसानों के साथ-साथ विश्व भर के किसानों की दुर्दशा की ओर सबका ध्यान आकृष्ट किया था। इसके लिये उन्होंने किसानों के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, तथा आर्थिक सभी दिशाओं में उनके निरन्तर सुधार एवं प्रगति की आवश्यकता पर बल दिया था। 'प्रताप' के एक विशेषांक में उन्होंने "भारतीय किसान" शीर्षक लेख में इन सभी विचार बिंदुओं को तर्क सहित प्रस्तुत किया था। उन्हीं के शब्दों में "कृषक समस्त संसार के अन्नदाता हैं। वे मनुष्य जाति के प्राणाधार हैं। स्वामी राम के शब्दों में कृषक समाज, राष्ट्र की जड़ हैं और भारत के एक अन्य अनुपम नररत्न की सम्मति में देश की सच्ची जनता। परन्तु साथ ही संसार-भर में सबसे अधिक अत्याचार के विश्वव्यापी लक्ष्य भी वही रहे हैं। संसार के अन्य किसी समुदाय के साथ इतना अधिक अत्याचार और अन्याय नहीं किया गया जितना कि कृषकों के साथ किया गया है। वास्तव में यदि कृषकों के साथ किया गया अत्याचार और अन्याय नहीं तो फिर संसार में अत्याचार और अन्याय जैसी कोई चीज ही नहीं। क्या पश्चिम क्या पूर्व, क्या यूरोप क्या एशिया सर्वत्र कृषक समाज धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक अत्याचार का शिकार बना रहा है।"

लेख का निष्कर्ष उन्होंने इस प्रकार प्रस्तुत किया था "यथार्थ में हमारे किसानों की दशा इतनी शोचनीय है कि उनके उद्धारार्थ भगीरथ प्रयत्न की आवश्यकता है। सामाजिक और धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक, उनके जीवन का एक भी विभाग ऐसा नहीं जिसमें वे अवनति के अधःतम गर्त में न पड़े हों।"

शिक्षा के सम्बन्ध में भी विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' संपादक के रूप में विभिन्न अवसरों पर विचार किया था। पराधीन भारत की शिक्षा में आमूल परिवर्तन करने की उन्होंने बार-बार आवश्यकता बताई थी। इस परिवर्तन के लिये उन्होंने कुछ बुनियादी सूत्रों को स्वीकार करने का आग्रह किया था। प्राथमिक स्तर पर उन्होने नैतिक शिक्षा की अनिवार्यता पर बल दिया था। उनके विचार में साम्प्रदायिक शिक्षा तथा नैतिक शिक्षा में मौलिक अन्तर है। विविधता के देश भारत में किसी एक धर्म की शिक्षा सार्वजनिक विद्यालयों में दिया जाना लोकहित में नहीं है, इसके विपरीत सदाचार की शिक्षा लोकमंगल की विशुद्ध भावना पर आधारित है। नैतिक शिक्षा का पक्ष रखते हुये उन्होंने जापान का उदाहरण दिया था। उनके मतानुसार "सदाचार की शिक्षा के लिये किसी मत विशेष का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं हैं। विविध मतों के आदर्श-पुरुषों के चरित्र बच्चों को सदाचारी रहने के लिये उत्तेजित कर सकते हैं। जापान के समस्त स्कूलों में सदाचार की शिक्षा का एक घंटा होता है।...शिक्षक विविध पुस्तकों में से अच्छी-अच्छी बातें तथा सत्य, देश-प्रेम, वीरता इत्यादि के उदाहरण छाँट कर बच्चों को सुनाता है। निस्सन्देह इस प्रकार की शिक्षा बच्चों को सदाचारी बनाने के साथ-साथ मनस्वी बनाती है।"

उच्च शिक्षा के लिए उन्होंने तीन सूत्रों की चर्चा की है। शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं में भवन तथा रौनक पर कम से कम व्यय, छात्रों के लिए सस्ती शिक्षा तथा शिक्षा के सरकारीकरण के प्रति निरन्तर सावधानी। उनके अनुसार भारत जैसे गरीब देश के लिए सर्वसाधारण के करोड़ों रुपयों से मात्र दो-चार हजार लोगों के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना बेमानी है। उन्हीं के शब्दों में "इसलिए शानदार बड़ी-बड़ी इमारतों आदि पर धन नाश करने का प्रलोभन एक अत्यन्त हानिकर प्रलोभन है। जापान में अनेक स्कूल कालेजों के पास शानदार इमारतें नहीं हैं।" तीसरे सूत्र के रूप मे उन्होंने सरकार की अपेक्षा समाज सेवी व्यक्तियों तथा संस्थाओं द्वारा संचालित महाविद्यालयों को अधिक श्रेयस्कर माना था। उन्होंने इसका प्रधान कारण शासन द्वारा नियंत्रित स्कूलों में अनावश्यक संकीर्णता तथा बंधनों का खतरा माना था। सरकारी अधिकारियों के हाथों में शिक्षा तथा समाज सेवी संस्थाओं को दे देने से उनमें विचारों की गुलामी तथा छात्रों के स्वतन्त्र व्यक्तित्व विकास के लिए खतरा बढ़ता जायगा। वस्तुतः शिक्षा उनके लिए जीवन-यापन का साधन नहीं एक परिमार्जित संस्कार के रूप में थी। उन्होंने शिक्षा का उद्देश्य इस प्रकार स्पष्ट किया था "वह शिक्षा, शिक्षा कहलाने योग्य है जो हमें उदार तथा मनस्वी बनावें।...हमारे हृदयों में देश-प्रेम, ऐक्य तथा स्वार्थ-त्याग का संचार करती हो, यही शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य है।"

विभिन्न सन्दर्भों में विद्यार्थी जी के विचारों का विश्लेषण किया जा चुका है। इसके आधार पर स्पष्ट है कि उनके चिन्तन के कुछ मूलभूत तत्त्व थे। इनका प्रेरक बिन्दु था उनका सुदृढ़ देश-प्रेम। विद्यार्थी जी प्रत्येक समस्या और सन्दर्भ में मानों देश का चित्र सामने रखकर विचार करते थे। उनकी अंतरात्मा में जो विचार देश के लिए

मंगलकारी प्रतीत होते थे, उन्हें प्रगट करने में वे नितान्त स्पष्ट एवं प्रखर थे। उनमें विचार अभिव्यक्ति की अनूठी निर्भीकता थी। कई बार उन्होंने बड़े से बड़े, जन-नेताओं की तीव्र आलोचना की थी, क्योंकि उनकी दृष्टि में इन नेताओं के विचार देश-हित में नहीं थे।

देशबन्धु चितरंजनदास ने पूर्ण स्वराज्य के स्थान पर औपनिवेशिक स्वायत्त शासन का समर्थन किया था। उस समय राजनीतिक क्षितिज पर देशबन्धु छाये हुए थे, किन्तु विद्यार्थी जी ने देशबन्धु के विचारों का जिस तरह प्रबल विरोध करके अत्यन्त तीव्र सम्पादकीय 'प्रताप' में लिखा, वह उनकी निर्भीक वैचारिक अभिव्यक्ति का सशक्त प्रमाण है। इस लेख का शीर्षक था "झुका हुआ झण्डा।" इसके आरम्भ का यह प्रथम वाक्य ही स्पष्टता की घोषणा करता है। "दास बाबू ने स्वतन्त्रता का फहराता हुआ झण्डा झुका दिया।" आगे का अंश और भी तीव्र था। "देशबन्धु ने फरीदपुर कान्फ्रेंस में जो कुछ कहा, वह स्वराज्य दल की नीति की प्रतिच्छाया है।···पराधीन देश की राजनीति को आप वेश्या बनाकर नहीं रख सकते। उसे तो संन्यासिनी होकर ही रहना पड़ता है। स्वराज्य दल ने उसे वीरांगना के वस्त्र पहिनाये···यह सब ढकोसला। देशबन्धु दास का यह भाषण विचित्रताओं की खान है। एक ओर तो स्वराज्य की लम्बी-चौड़ी परिभाषा और दूसरी ओर साम्राज्य (ब्रिटिश) की सीमा में उसकी जकड़ बन्दी।···आप स्वाधीन हों, या न हों यह आपकी इच्छा परन्तु कम से कम स्वाधीनता के भाव का यह उपहास तो न कीजिये। ऐसा मालूम पड़ता है कि भाषण देते समय दास बाबू की नजर के सामने देश और देशवासी उतने निकट न थे जितने कि भारत सचिव लार्ड बर्कन हेड और हमारे अंग्रेज प्रभु।" (प्रताप, ११ मई १६२५)

विद्यार्थी जी के विचार मुख्यतः चार तत्वों से बने, पुष्ट हुए और विस्तार क्षितिज की ओर बढ़ते गये। जनशक्ति पर विश्वास, नैतिक जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा, गाँधी जी के विचारों का प्रभाव तथा देश के लिए तरुण वर्ग से अधिक अपेक्षायें—इन चारों की विचार-रश्मियों से उनका चिन्तन-आकाश आलोकित था। जनता के बीच में रहकर, जन-जीवन के सुख-दुःख की तरंगों में बहकर, उनके लिए जनशक्ति में अटूट आस्था रखना स्वाभाविक था। इसी विश्वास की शक्ति पर उन्होंने सत्ताधारियों से, पूँजीपतियों से, ऊँचे अधिकारियों से, राजाओं-महाराजाओं से आजीवन युद्ध किया था। यहाँ तक कि जिस राजनीतिक दल के वे सामान्य कार्यकर्ता नहीं, उसके वे अत्यन्त वरिष्ठ नेताओं में थे। (स्मरण रहे, बलिदान के पूर्व वे युक्त प्रान्त (अब उत्तर प्रदेश) कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष थे) उस दल पर अंकुश रखने के लिए वे "जनशक्ति" के संगठित करने का कई बार आह्वान कर चुके थे। स्वराज्य के प्रश्न पर कांग्रेस दल में शैथिल्य आने पर उन्होंने इसी लोक-शक्ति के जागरण करने का सुझाव दिया था। उन्हीं के शब्दों में "इस शक्ति के जाग्रत करने का केवल एक ही तरीका है। वे जिन्हें भारतीय भविष्य में विश्वास है, वे जिन्हें आदमियों से आशा है, वे जो अपनी आत्मा को वर्तमान हीनता से ऊपर उठाकर, निर्मल भावी के अवश्यम्भावी को देख सकते हैं, अपने

तथा आम आदमियों के जीवन को स्वावलम्बी और दृढ़ बनाने में खप जायं, शक्ति का विकास तभी सम्भव है। कांग्रेस यदि पीछे कदम उठाये तो उसे असली उद्देश्य और राष्ट्र निर्माण के कार्य पर कायम रखने के लिए इन आत्माओं की शक्तियों को लग जाना चाहिए, राष्ट्र में तभी शक्ति का निर्माण और विकास होगा।"

(प्रताप, १८ मई १९२५)

उनका सोचना था कि लोकशक्ति के अभाव में राजनीतिक चुनाव जीतकर देश का कल्याण नहीं किया जा सकता। इसी तरह प्रलोभन अथवा सत्ता के लिए भीड एकत्र करके कांग्रेस को बड़ी पार्टी सिद्ध करना मात्र एक भ्रम है, धोखा और प्रवंचना है। इन विचारों को विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' के माध्यम से समय-समय पर प्रगट किया था। एक बार उन्होंने कांग्रेस अधिवेशन के समय 'प्रताप' के द्वारा चेतावनी दी थी "कौंसिल या लेजिस्लेटिव एसेम्बली के चुनाव के महीने पहले तीन बार घूम-घूम कर महात्मा गांधी या लोकमान्य तिलक की जै बोलकर वोट बटोर लेना ही यदि राजनीति है तो हमें कहना पड़ेगा कि ऐसी राजनीति से देश का उद्धार न होगा।" विद्यार्थी जी की यह चेतावनी उस समय चाहे उतनी महत्वपूर्ण न रही हो किन्तु देश स्वतन्त्र होने के बाद, आने वाले वर्षों में यह चेतावनी प्रासंगिक रही है। विद्यार्थी जी की इस चेतावनी के ठीक अर्धशती बाद लोकशक्ति की महत्ता और वोटों की राजनीति की निस्सारता लोक नायक जयप्रकाश नारायण द्वारा देश के सामने प्रस्तुत हुई।[1]

जनशक्ति तथा उसकी प्रदाता जनता का महत्व विद्यार्थी जी कितना मानते थे, इसका सही परिचय उनकी इस बात से होता है। "स्वराज्य जलील समझौतों और कौंसिलों में अलग बगाने से प्राप्त न होगा, वह प्राप्त होगा (जनशक्ति), सर्व साधारण के ऊपर उठाने और उनकी शक्ति से। जो स्वराज्य व्यक्तियों और समुदायों के विशेष अधिकारों के आधार पर मिले वह स्वराज्य न होगा, कुछ लोगों की अधिकार प्राप्ति देश में अधिकांश लोगों की गुलामी होगी।" संस्थाओं, समुदायों और दलों की अपेक्षा जन-जन की शक्ति का प्रभाव व्यापक, स्थायी तथा शीघ्र होता है। इसी विश्वास के आधार पर उन्होंने १९२६ में, जब देश राजनीतिक निराशा के अंधकार में भटक रहा था, उसे आशा तथा आलोक का प्रेरक सन्देश दिया था "इस समय हमारा देश विश्रृङ्खलता के युग से गुजर रहा है, अब जबकि सभाओं और संस्थाओं ने अपने हाथ समेट लिये हैं, व्यक्तियों को आगे आना चाहिए। जहाँ बड़ी संस्थायें असफल सिद्ध होती हैं, वहाँ अन्ततोगत्वा व्यक्ति का व्यक्तिगत उपाय ही काम में लाया जाता है। व्यक्ति से ही शक्ति उत्पन्न होकर देश-शक्ति बनती है।...हमारा यह विश्वास है कि देश स्वतन्त्र होगा और कुभावनाओं से उसकी मुक्ति होगी।"

---

१. लोकनायक जयप्रकाश जी ने कहा था—"सबसे पहले तो जनता को स्वयं जाग्रत होना है। जब तक स्वयं जनता का नेतृत्व पैदा नहीं होता, तब तक कोई भी लोकतंत्र सफलतापूर्वक नहीं चल सकता।"

व्यक्ति और समूह दोनों के कल्याण एवं उत्थान के लिए नैतिक जीवन मूल्यों की आवश्यकता इस देश के इतिहास, दर्शन, धर्म और साहित्य में सर्वत्र प्रतिपादित है। विद्यार्थी जी की दृष्टि में नैतिक मूल्यों का प्रश्न व्यक्ति के लिए आवश्यक है तो समाज या राष्ट्र के लिए अनिवार्य है। इन नैतिक मूल्यों का आधार उन्होंने भारतीय जीवन दर्शन का उदात्त तथा व्यापक दृष्टिकोण माना है। सत्यता, उदारता, तपस्या, त्याग तथा लोकहित इस देश की पूँजी है। इन वृत्तियों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया था। "कोई महान् कर्तव्य तप बिना पूरा नहीं हो सकता। कोई आत्मा तप बिना महान् नहीं हो सकती। मृग मरीचिका का सा भ्रम है, उन प्राणियों का, जो सहज में सुख के साधनों से घिरे और कष्टों से भागते हुए महान् कार्यों में सफलता का सुख स्वप्न देखें। हिरण्यकश्यप का अत्याचार अपने दमन के लिए प्रह्लाद का सत्या-ग्रह चाहता है, और चित्तौड़ की स्वाधीनता का अपहरण करने वाले आक्रमण अपनी रोक के लिए वीर प्रताप की कठिन तपस्या। तप विहीन प्राप्ति मनुष्य को छोटा, ओछा, निर्बल और पतित बनाती है।"

तपःपूत नैतिकता का पराभव उनके लिए राष्ट्र की मृत्यु जैसा था। नैतिकता के सर्वोच्च आलोक पुंज के रूप में गांधी जी देश के सच्चे मार्ग दर्शक थे, इस विश्वास को उन्होंने बारबार प्रकट किया था। उनकी प्रार्थना थी "अनीति और अत्याचार के आघात-प्रतिघातों से उत्पन्न मर्मभेदी पीड़ा जब ज्ञान और बुद्धि को विचलित करने की तैयारी करें...उस समय भारतवर्ष की सर्वोत्कृष्ट संतति गांधी उनके (देशवासियों के) अनुकरण का पात्र हो।" गांधी जी में उन्होंने समस्त पीड़ित मानवता, भारत की कोटि-कोटि उपेक्षित, क्षुधित, तृषित, पददलित आत्माओं का दर्शन किया था। तभी तो उन्होंने एक भविष्य द्रष्टा के रूप में घोषित किया था कि वर्तमान चाहे गांधी को मार डाले किन्तु भविष्य गांधी के ही पद चिह्नों पर अपनी कालजयी यात्रा की कथा लिखेगा। उन्हीं के शब्दों में "मानव समाज के पतित से पतित, दलित से दलित और घृणित से घृणित अग के साथ तादात्म्य भाव स्थापित करते हुए महात्मा गांधी को जिन महानुभावों ने देखा, वे धन्य हैं। भारत के अछूतों के साथ, दुनिया के बहके हुओं के साथ, घृणास्पद कुष्ट राग से पीड़ित जन समुदाय के साथ, अकाल पीड़ित हाड़ के कंकालों के साथ, पतित बहनों के साथ, महात्मा जी को कभी देखिये।...मोहक शब्दों द्वारा मोहन ने अपने सम्मोह-नास्त्र का वार संसार-वासियों पर किया है।"

इसी प्रसंग में आगे उन्होंने एक भविष्य द्रष्टा की तरह चेतावनी दी थी। "युग के युग बीत गये, हमारे भाग्य से आज ऐसी विभूति आई है। उसका विरोध कीजिये। जी में आये तो उसे काँटों का मुकुट पहना कर सूली पर टांग दीजिये। पर एक बात न भूलिये—ऐसा पुरुष जिसकी चरणरज के एक-एक कण पर जीवन निछावर कर दिया जाय, फिर नहीं मिलेगा। गांधीवाद की महिमा आज समझ में नहीं आती, उसका मखौल उड़ाया गया और भविष्य बता देगा कि वह सत्य है, मखौल क्षण-स्थायी है।"

(प्रताप, २० नवम्बर १९२५)

विद्यार्थी जी ने गांधी जी के अनूठे विश्वव्यापी विराट व्यक्तित्व का अनुभव १९२५ में ही किया था और लिखा था कि यदि दूसरे लोग पाप करते हैं तो महात्मा जी उनके पापों को अपना लेते हैं। वे (अनूठे) उपासक हैं जो जीव-जगत् को अपना प्रतिबिम्ब मानते हैं। लगभग २५ वर्ष बाद मानवता सज्जित ईसा विश्वबंधु अनूठे गांधी, उस गांधी का जो भय मुक्त, रागद्वेष मुक्त, नौआखली के दंगों की ज्वाला शान्त करने के लिए अकेला, मात्र अकेला नंगे पांव घर-घर जा रहा था, श्री रामधारीसिंह दिनकर ने गौरव गान किया था। चिन्तक विद्यार्थी जी की कल्पना सत्य में परिणत होने के लिए तरुणाई पर निर्भर थी। 'प्रताप' के सम्पादकीय लेखों में उन्होंने बार-बार देश के तारुण्य को पुकारा था, ललकारा था, चुनौती दी थी और दिया था अपना अटूट विश्वास। तरुणों के लिए उन्होंने एक सफल मंत्र द्रष्टा की भांति, जो उद्बोधन मंत्र दिया था, वह आज के तरुण वर्ग के लिए, यथार्थ मूल्यवान एवं नितान्त प्रासंगिक है। समग्र युवक जगत में विश्वास की मेघ वर्षा करते हुए विद्यार्थी जी ने लिखा था "तुम्हारे जीवन के प्रत्येक विभाग पर और तुम्हारी क्रियाशीलता के प्रत्येक फल पर विश्वास के भाव की मुहर अंकित है।...तुम्हें विश्वास हो अपने कार्य की महत्ता पर उसकी सत्यता की शुद्धता पर, तुम्हें विश्वास हो अपने देश के महान् भविष्य पर।"

विद्यार्थी जी केवल उपदेशक नहीं थे। वे कर्मक्षेत्र के एकनिष्ठ, तपोनिष्ठ योद्धा थे, इसीलिये उन्होंने तरुण समाज को "कोरे आदर्शवाद" के मोह से मुक्त रूप में कार्य करने की अपील की थी। उन्होंने लिखा था "याद रक्खो। तुम्हारी शक्तियां केवल एक महान् कार्य के नाम पर अर्पित हैं, इसलिये तुम्हें उन कामों में पड़ने की आवश्यकता नहीं जिनमें उनका विनाश है। "स्वत्व" लोगों के लिये बड़ा ही प्रिय शब्द हो रहा है। स्थान-स्थान पर उसकी महिमा गाई जाती है और उसके लिये बहुत हाथ-पैर मारे जाते हैं। तुम इस भ्रम से बचो कि स्वत्व स्वतंत्र रीति से अपना कोई भी रूप रखता है। कर्तव्य स्वत्वों का जन्मदाता है। जो अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करता, उसे स्वत्व की दुहाई देने तक का कोई स्वत्व नहीं।"

तरुणों के लिये देश-प्रेम से प्रेरित एक लम्बा किन्तु प्रशस्त मार्ग का उन्होंने दिशा निर्देश किया था जिसमें समस्त प्रकार के बंधनों से मुक्त तरुण लोक की रचना का स्वप्न हो। इस स्वप्न के साकार करने में उन्होंने मुख्य भूमिका तरुण वर्ग की स्वीकार की थी। प्रत्येक को निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हुये उन्होंने कहा था "हर विभाग में तुम अपने प्रत्येक देश-भाई के आगे बढ़ने के लिये मार्ग प्रशस्त करो, राजनैतिक बंधनों को तोड़ो तो धार्मिक आडम्बर भी तुम्हारे बाधक न रहें, सत्ताधारियों की सत्ता तोड़ो तो उस घृणा और उपेक्षा का बांध भी तोड़ दो जो करोड़ों आत्माओं को तुमसे विलग रखता है।"

अपने बलिदान से कुछ समय पूर्व उन्होंने तरुण के लिये जिस सत्य का प्रतिपादन किया था, उसमें युगीन अभिव्यक्ति ही नहीं थी, स्वाधीन भारत के भविष्य स्रष्टा की पुकार भी थी। आज स्वतन्त्र तरुणों की जिन समस्याओं से देश जूझ रहा है उनका

उन्होंने वर्षों पूर्व आकलन किया था। दिसम्बर १९२८ के साप्ताहिक 'प्रताप' में उन्होंने जो उद्‌बोधन किया था, वह अपने ज्वलित अक्षरों और तेजस्वी भावनाओं के साथ आज भी उतना ही प्रेरक, उतना ही नूतन, उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना अर्धशताब्दी पूर्व था। उसका कुछ विचारणीय अंश इस प्रकार था—

"देश के पुराने आदमी अपनी नई खेती पर खुश हों, वे उसका स्वागत करते हुये पथ निर्देश करें, न उसे दबायें, न उसे घातक समझें। पुरानों की अपेक्षा नयों की अब अधिक जिम्मेदारी है। समय उनकी प्रतीक्षा कर रहा है, सुविधायें उनके चरणों को पखारने के लिये तैयार हैं, किन्तु यह तभी, जब वे केवल युवकत्व के नाम पर नहीं, केवल इसलिये नहीं कि वे पुनीत विद्रोही हैं, जो इतिहास का निर्माण किया करते हैं किन्तु अपनी प्रगाढ़ आदर्श भक्ति और आदर्श की ओर बढ़ने वाले व्यक्तियों के योग्य विनम्रता और कर्तव्यशीलता का अखण्ड परिचय देकर अपने लिये स्थान चाहेंगे। गालियों के देने, डींग मारने, आजादी की व्यर्थ रट लगाने और दूसरों पर धूल फेकने से न कोई बड़ा होता है और न कोई बड़ा काम करता है। बहुधा जो गरजते हैं वे बरसते नहीं, और जो बड़ी डींग मारा करते हैं, वे बड़े कायर हुआ करते हैं। (नौजवान) बढ़-बढ़ कर बातें न करें, वे बढ़-बढ़ कर काम करें।"

विद्यार्थी जी के समस्त विचारों का निष्कर्ष उस सूत्र में है, जो उन्होंने सत्य पर मर मिटने के संकल्प के साथ पत्रकार बन्धुओं के लिये निश्चित किया था। यह सूत्र उनकी अमर वाणी की शाश्वत दीप शिखा है, जो प्रत्येक युग को आलोक से परिपूर्ण करने में सक्षम और तत्पर रहती है। उन्हीं के कालजयी शब्दों में वह सूत्र इस प्रकार था—"मैं पत्रकार को सत्य का प्रहरी मानता हूँ—सत्य को प्रकाशित करने के लिये वह मोमबत्ती की भाँति जलता है। सत्य के साथ उसका वही नाता है, जो एक पतिव्रता नारी का अपने पति के साथ रहता है। पतिव्रता पति के साथ सती हो जाती है और पत्रकार सत्य के साथ।"

आज स्वतंत्र भारत में, जब सत्ता ही राजनीति है, पद प्रलोभन ही सेवा का मूल मंत्र हो रहा है, मिथ्या आचरण ही वाणी का सहचर बन रहा है, तब विद्यार्थी जी की इस वाणी का स्मरण ही इस युग के तम का मोमदीप बन सकता है।

लघु भारत

"साँझ होते ही न जाने छा गई कैसी उदासी,
क्या किसी की याद आई ओ ! विरहव्याकुल प्रवासी ।"

श्री नरेन्द्र शर्मा की इन पंक्तियों में जिस असीम व्यथा का संकेत है, वह चाहे जिस सन्दर्भ में हो किन्तु "प्रवासी" शब्द अपने आप में "एक करुण कथा" तथा "वेदना असीम गुजरती" का युगीन सन्देशवाहक है। साहित्यिक भावानुभूति के अतिरिक्त, राष्ट्रीय प्रसंग में यह शब्द गत शताब्दी में परतन्त्र भारत के लिये अन्याय, शोषण एवं दमन का अर्थबोध कराता रहा है। भारत में सन् १८५७ की ऐतिहासिक क्रान्ति के बाद, हमारे जो देशवासी, "प्रवासी" बनकर अफ्रीका आदि सुदूर देशो मे गये, उन्हें पाशविक अत्याचार और अनेक कठोर यातनाओं की राह से गुजरना पड़ा। सन् १८५८ में पहली बार दक्षिणी अफ्रीका के साम्राज्यवादी शासन ने ब्रिटिश सरकार के माध्यम से भारतीयों को कुली के रूप में मँगाना शुरू किया। "लावारिस" या "सस्ते माल" की तरह भारतवासी जहाजों पर लाद-लाद कर हजारों की संख्या मे दक्षिणी अफ्रीका, केनिया, ग्वाना, फिजी, मारीशस आदि देशों में पहुँचा दिये गये। इनमें से अधिकांश ने गंगा-यमुना की गोद में बचपन बिताया था, तरुणाई के प्रभात मे इन्होंने कृष्ण की "मुरली" का गीत गाया था। तुलसी के दोहे-चौपाइयों में जीवन की वर्णमाला पढ़ी थी, आल्हा के गगनभेदी स्वरों में वीरता का जयनाद किया था।

"आठ बरिस तक कूकुर जीवै
औ बारह तक जियै सियार।
बरिस अठारह क्षत्री जीवै,
आगे जीवन को धिक्कार।"

इसी प्रकार इनमें से अधिकांश उस धरती से जुड़े थे, जहाँ सीता ने जन्म लिया था और जिस सौन्दर्य भूमि में विद्यापति के मीठे बोल मिश्री की तरह "मिठास" लेकर कभी कानों में गूँजे थे—"जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल।" सुदूर परदेश में उनके पास पूंजी के नाम पर तुलसीदास के रामायण का गुटका अथवा रटे हुये कुछ दोहे और चौपाइयाँ थीं—

"आपत काल परखिये चारी
धीरज धर्म मित्र अरु नारी।"

साहित्य, संस्कृति, दर्शन के नाम पर कबीर के भजन की कुछ भूली बिसरी पंक्तियाँ "मन न रंगाये, रंगाये जोगी कपड़ा", "चुनरी में लागा दाग", या रैदास की पुकार "प्रभु जी तुम चंदन हम पानी" अथवा चैती बिरहा, पुरबी अथवा कजरी के गीत थे।

"संवलिया रे काहे मारे नजरिया।
मारे नजरिया जगावे पिरितिया।
जैसे दूध में पानी मिलत है
वैसे मिलौं तोरे साथ। संवलिया रे,"

इस तरह अपना गाँव, खेत-खलिहान, भाई-बंधु छोड़कर जाने वालों के पास केवल स्मृतियाँ ही थीं, दाहक हृदय को हमेशा के लिये बेधने वाली। इसके अन्तर्मन में कुछ भूली बिसरी पंक्तियाँ मात्र थी—

"मन तोरा अदहन, तन तोरा चाउर, नयना मूंग के दालि
अपने बलम के जेंवना जेवा को बिनु लकड़ी बिन आग।"

माँ की ममता, प्रिया की वेदना, आकाश में चमकने वाली सौदामिनी की तरह कभी-कभी टीस पैदा कर देती थी।

"सकल चिरैया, उड़ि उड़ि जैहैं अपनी अपनी जून
मैं तो पापिनि परिऊँ पिजड़वा, मरऊँ बिसूर बिसूर।"

अथवा कभी कभी ननद भौजिया के रस भरे बोल थे।

"जोबन गया तो क्या गया, तन से गई बलाय।
जने जने का रूठना, मोसों सहा न जाय।"

लालच, लोभ, छल-कपट, प्रलोभन, दण्ड और भय की मजबूत डोरियों में बाँधकर हमारे देश भाईयों को उन देशों में भेजा जाता। वहाँ पशु की तरह इनसे दिन-रात काम लिया जाता। भूख-प्यास, अपमान और कोड़ों की मार से उन्हें फिर अपना देश, "शस्य श्यामला" हरे-भरे खेत, बागों की अमराइयाँ, पपीहे की पुकार, कोयल की कूक, प्रातः-सायं घण्टों की दिगदिगन्त व्यापी ध्वनि, काशी विश्वनाथ गंगे का गूँजता हुआ सहस्त्रव स्मरण आता, तब वे मौन निस्पन्द, सुदूर अतीत के "न आने वाले कल" की मादक स्मृति में डूब जाते। उनका व्याकुल कण्ठ फिर से मुखरित हो उठता। "रघु वर संग जाब, हम न अवध में रहबे।" (हम राम के साथ जायेंगे तुम्हारे अयोध्या में नहीं रहेंगे)

पर यह क्या संभव था? राम का वन तो पीछे, हजारों मील पीछे छूट गया था और शेष थी केवल कूटनीति की लंका या छलनीति तथा ताड़ना का मंथरा प्रदेश।

इनमें से सभी यहाँ "सुनहले सपनों" का सौदागर बनने आये थे पर बन गये थे गुलाम, निर्वासित, यंत्र चालित। इनके पास न शिक्षा थी, न ज्ञान था। धन विहीन,

गँवार किन्तु गंगा के रूप की तरह स्वच्छ आत्मा, मानसरोवर की तरह निर्मल हृदय, सागर की बड़वाग्नि की तरह जीने की दुर्दमनीय अपराजेय आकांक्षा लिये, इन हजारों हृदयों में यमुना की तरह गहरी संवेदनशीलता थी। इस संवेदनशीलता में उन्हें कभी-कभी अपने से बिछुड़ों की याद आती थी, उनकी, जिन्हें पैसों के लिये छोड़कर उन्हें यहाँ आना पड़ा था और उन स्वरों की, जिन्हें यहाँ आते समय अविरल अश्रु प्रवाह के बीच सुनना पड़ा था —

पूरब से आई रेलिया, पछिऊं से जहजिया
पिय के लादि लेई गई हो
रेलिया होइ गइ मोर सवतिया, पियके लादि लेइ गई हो
रेलिया न बैरी, जहजिया न बैरी, जहजिया न बैरी
इहै पैसवा बैरी हो।
देसवा देसवा भरमावइ, इहै पइसवा बैरी हो!

(न रेल शत्रु है, न जहाज शत्रु है, बस पैसा ही बैरी है, उसी के लिये तो प्रिय परदेश जा रहे हैं। यह रेल तो मेरी सौत है जो प्रीतम को अपने संग लेकर भाग गई।)

इस विशाल जन समूह में धीरे-धीरे भारत की ओर भी धारायें आकर मिल गईं, गुजरात से, मद्रास से, पंजाब से, बंगाल से। ये सब मिलकर भावी इतिहास का रूप रचने लगीं। बृहत् भारत के आलोक को फैलाने के लिए लघु भारत के अनेक मोम-दीप। हमारे देश के कोटि-कोटि जन मोम बनकर गल गये। ये धीरे-धीरे जलते हुए, बना गये आज के विकसित समर्थ सांस्कृतिक चेतना के राजदूत मारीशस, फिजी, केनिया, सूरीनाम को। इन देशों के वर्तमान में शायद आज भी गूंज जाते हैं हमारे बलिदानी पूर्वजों के शत-शत कण्ठ "न दैन्यम् न पलायनम्।"

इस पृष्ठभूमि में प्रवासी भारतीयों की दयनीय दशा, और उनके ऊपर होने वाले अन्याय के विरोध में अमर शहीद विद्यार्थी जी और उनके 'प्रताप' ने आरम्भ से ही आवाज उठायी थी। इस आवाज में मात्र सहानुभूति नहीं, अपनत्व तथा ममता का सतत प्रवाह था, अन्याय से अन्त तक संघर्ष करने की प्रेरणा-शक्ति और बलिदान के लिए वीरतापूर्ण आह्वान था। भारत पराधीन था, विदेशी निरंकुश सत्ता का भयानक आतंक छाया रहता था किन्तु कठोर शिलाओं की छातियों को चीर कर बहने वाले एकांत निर्झर के समान, विद्यार्थी जी का स्वर अविरत, निर्भीक, शाश्वत बनकर निनादित होता रहा। उनकी लेखनी मानों समय को चुनौती देती थी—

"सुनूं क्या सिन्धु मैं गर्जन तुम्हारा।
स्वयं युगधर्म का हुँकार हूँ मैं।"

इन प्रवासी भाईयों की दुर्दशा पर विद्यार्थी जी समय-समय पर बराबर लिखते रहे। इनके आँसुओं की स्याही में अपनी कलम डुबोकर उन्होंने १६ नवम्बर १९१३ को जो शब्द चित्र प्रस्तुत किया था, वह आज भी तरोताजा और बहुत गहरे दर्द का

अनुभव कराता है। उन्हीं के शब्दों में—

'तुम एशिया के रंगदास आदमी हो। एक दोषी की तरह रजिस्टर में अपनी उँगलियों की छाप दो। और यह लो सर्टिफिकेट, जो तुम्हारी हीनता-दीनता और दुर्दशा की सनद है। अच्छी तरह रखना, अफ्रीका का छोटा अफसर, तुमसे इसे माँगेगा, दिखाना, नहीं तो १५०० रुपये जुर्माना या तीन मास के लिए जेल जाओगे। व्यापार करना हो तो लाइसेंस लो। तुम किसी खास जायजाद के मालिक नहीं हो सकते। नेटाल के काले हिन्दुस्तानियों तुम ४५ रुपये साल का टैक्स दो। कोई रियायत नहीं, चाहे गरीब हो या अमीर। यदि तुम पुरुष हो और तुम्हारी उम्र १६ से अधिक हो और यदि तुम लड़की हो, और तुम्हारी उम्र १३ वर्ष की है, और चाहे तुम दोनों कुछ भी न करते हो—लेकिन तुम्हें यह टैक्स देना ही पड़ेगा, नहीं तो जेल। अपमान और बात-बात पर। फुटपाथ पर न चलने पाओगे। ट्राम में न बैठने पाओगे। होटलों से निकाले जाओगे और रेल के उच्च दर्जा में तुम काले आदमियों के लिए जगह नहीं। तुम्हारी स्त्री। छिः कैसी स्त्री और कैसे पुत्र। होश की बातें करो। तुम्हारी स्त्री दक्षिण अफ्रीका में वेश्या है और तुम्हारे बच्चे दोगले लड़के।''

इस दुर्दशा के लिए उन्होंने मुख्यतः दो कारण बताये थे। पराधीन भारत मे विदेशी-शासन और इंगलैण्ड के ब्रिटिश शासन की दुरंगी नीति। जब इस देश में राजनीतिक चेतना करवटें बदल रही थीं, तब उन्होंने इंगलैण्ड के राजसिंहासन तथा भारत के विदेशी शासन दोनों को चेतावनी दी थी। "इंगलैण्ड की छत्र-छाया हमारे ऊपर है और दक्षिण अफ्रीका के ऊपर भी।···क्या उसी की प्रजा का एक भाग हमारे हकों, नहीं हमीं को पैरों से कुचल कर धूल में मिला देने की कोशिश नहीं कर रहा है?··· उसने हिन्दुस्तानियों को अफ्रीका भेजा और अब वह उनकी रक्षा नहीं कर सकती। सम्राट ने भारतीय प्रजा को समता का सन्देश सुनाया और इम्पीरिअल सरकार अपनी कमजोरी और अदूरदर्शिता से उन पवित्र शब्दों का निर्वाह नहीं कर सकती। उसकी ये गलतियाँ समझदारी की नजर में बड़ी ही भद्दी हैं और इनका नतीजा उसके लिए अच्छा नहीं हो सकता।"

(प्रताप, १६ नवम्बर १९१३)

केवल सरकार को चेतावनी देना ही उन्हें अभीष्ट नहीं था, उन बिछुड़े भाईयों की सहायता के लिए भारतीय जनता को उत्प्रेरित करना, उनका धर्म था। इस धर्म-पालन में उन्हें भारतीय जनता की उदासीनता, उपेक्षा अथवा कायरता कदापि सहन नहीं थी। प्रवासी बन्धुओं की समस्या उनके लिए "प्रवासी" की नहीं, सारे देश की थी। उन्हीं के शब्दों में "अफ्रीका में हमारे भाईयों के लिए आज यह समस्या पेश है। केवल उन्हीं की नहीं बल्कि इस देश में रहने वाले ३१ करोड़ प्राणियों के सामने भी और उसी उग्रता के साथ।" इस समस्या-निवारण के लिए, उनकी दृष्टि में, सारे भारत को संगठित, निर्भीक तथा क्रियाशील होने की आवश्यकता थी। उनके अनुसार "निर्बल जीवों का कहीं भी ठिकाना नहीं।···जीवन के लिए शक्ति की जरूरत है।"

प्रवासी भाईयों की सहायता के लिए तत्कालीन भारत सरकार पर जनमत का दबाव डालना एक उचित साधन था। इस जनमत को सशक्त करने के लिए विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' में बार-बार लिखकर देशवासियों को बराबर जाग्रत किया था। आवश्यकता पड़ने पर भारत में आन्दोलन करने के लिए भी उन्होंने कई बार संकेत किया था। यदि प्रवासी भारतीय देश वापस आना चाहें तो उन्हें पुनः आने के लिए धन आदि की व्यवस्था के लिए उन्होंने अपील की। प्रवासी भारतीयों के साथ गोरी सत्ता का व्यवहार उन्हें अन्याय ही नहीं, देश का अपमान भी लगता था। अगर सुदूर देशों के निवासी रहकर उन्नति कर सकते हैं तो हिन्दुस्तानियों को भी वहाँ रहकर प्रगति करने का पूरा अधिकार है। कई प्रसंगों में उन्होंने इस विचार को व्यक्त किया था। उनके मतानुसार जिन देशों में हमारे देशवासियों ने अनन्त कष्ट सहकर उन्हें रहने लायक बनाया, विकास की सम्भावनाओं के लिए कर्म भूमि तैयार की, उनमें हमारे भाईयों को समान अवसर एवं सुविधा से वंचित किया जाना सर्वथा अन्याय था। ऐसे भाईयों का भारत से सम्बन्ध टूटना उन्हें स्वप्न में भी स्वीकार न था। उनकी कल्पना और आकांक्षा थी कि भारत से दूर रहने वाले प्रवासी बन्धु, चाहे जिस देश में रहें, परन्तु उनका भावात्मक सम्बन्ध भारत से कदापि नहीं टूटना चाहिए। मात्र लौकिक सुखों के लिए प्रवासी भाईयों द्वारा धर्म एवं संस्कृति-परित्याग की कल्पना उनके लिए असह्य थी। इसीलिए अपने धर्म एवं संस्कृति की भावधारा से जुड़े रहने पर विद्यार्थी जी ने उन्हें "वीर", "धीर" और "तपस्वी" घोषित किया था। एक अवसर पर उन्होंने ऐसे वीर भाईयों की दिल खोलकर प्रशंसा की थी और भारतवासियों को इन्हें भुलाने पर "निर्लज्ज", "मर्यादा शून्य" तथा "अपमानित" होने की चेतावनी दी थी।

उन्हीं के शब्दों में "हमारे मुट्ठी भर भाई, जो तपस्या की दो धारी तलवार पर चल रहे है, केवल अपने ही लिए ऐसा नहीं कर रहे हैं। उन्होंने ऐसा किया है सारे देश और देशवासियो के लिए। वे अपने प्राण बचा सकते थे किन्हीं शर्तों पर।" ऐसे तपस्वी प्रवासी भाईयों का भारत से नाता तोड़ना स्वय भारत के लिए अपमानजनक और अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण होता। इसे उन्होंने व्यथा-पूर्ण शब्दों में कहा था। "बहुत होता तो उनका भारत से नाता टूट जाता। वे आपको न पहचानते और आप उनको न पहचानते। वे आपके धर्म, रक्त और भावों से अलग हो जाते और आप उनके।"

ऐसी दुखद स्थिति का परिणाम, ऐसे तपस्वी वीरों का विछोह भारत भूमि की प्रतिष्ठा को मिट्टी में मिला देगा। इस सम्भावना को उन्होंने स्पष्ट शब्दों मे घोषित किया था—"लेकिन आप यह भी जानते हैं कि इसका मतलब आपके लिए क्या होगा ? वीर भाईयों के विछोह से, जिनकी वीरता-धीरता के उच्च भावों के लिए कसौटी की जरूरत नहीं, संसार आपको घृणा की दृष्टि से देखेगा...और मान-मर्यादा खोकर आपकी इज्जत मुट्ठी-भर बेजान ठोकर खाने वाली खाक से बढ़कर न होगी।"

प्रवासी भारतीयो पर होने वाले अकथनीय अत्याचार, उनकी दुर्दशा के समाचार, वहाँ से आने वाले लम्बे वृत्तान्त, 'प्रताप' में वर्षों तक प्रकाशित होते रहे। समय-समय पर, विद्यार्थी जी ने इस विषय पर सामयिक टिप्पणियाँ और सम्पादकीय लेख लिखे। उन्होंने सारे देश में प्रबल जनमत जाग्रत करने का अभियान चलाया। इस अभियान की सफलता हेतु उन्होंने सोते हुए देशवासियों को जगाया। उन्होंने सुसंगठित होकर संघर्ष करने की प्रेरणा दी और ऐसा न करने पर कठोर शब्दों में चेतावनी दी। इसकी पुष्टि उनके एक सम्पादकीय का निम्नांकित अंश भली-भाँति कर देता है—

"यदि जातीय जीवन के भाव आपके हृदय मे हैं, तो उठ बैठिये और परीक्षा के लिए तैयार हो जाइए।···सिद्ध कीजिए कि उनके और आपके बीच में बड़ा भारी समुद्र अवश्य है लेकिन तो भी आपका और उनका हृदय एक है। सिद्ध कीजिए कि दूर होते हुए भी वे आपके ही रक्त-मांस से बने हैं और आप उनके। आपने हिम्मत हारी, कर्तव्य से जी चुराया, पीछे हटे तो गये।···संसार में आपकी भीरुता की कहावते कही जायेंगी। २०वीं शताब्दी के भारतीय इतिहास में लिखा जायगा कि संसार में एक भारतीय जाति थी, जो अपनी मूर्खता, भीरुता और कापुरुषता में अपने ढंग की एक ही थी, जिसने अपनी लाज के निबाहने वाले मुट्ठी भर आदमियों की अपनी कमजोरी से हत्या की।"

(प्रताप, घोर संग्राम, १६ नवम्बर १९२१)

एक ओर विद्यार्थी जी ने भारतवासियों को जगाया और दूसरी ओर उन्होंने तत्कालीन इंगलैण्ड के शासकों को उत्तरदायित्व की अवहेलना के लिए तीव्र फटकार बताई। ऐसा करते समय, उनके हृदय में अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों के लिए कैसी आग जल रही थी, इसका आभास उनके "कर्तव्य या प्रायश्चित" शीर्षक सम्पादकीय मे मिलता है। यह सम्पादकीय ३० नवम्बर सन् १९१३ के 'प्रताप' में प्रकाशित हुआ था। इसका निम्नांकित अंश विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है—

"कर्तव्य नहीं, कर्तव्य एक बहुत ही पवित्र शब्द है, हम इंगलैण्ड से कर्तव्य पालन नहीं चाहते। हम नही चाहते कि वह इस खयाल से इस मामले को अपने हाथ मे ले कि भारत के प्रभु होने के कारण उसे कुछ न कुछ करना ही चाहिए।···हम चाहते हैं—हमी नहीं संसार चाहता है और चाहेगा कि वह अपने उस पाप का प्रायश्चित करे, जिसके कारण आज हिन्दुस्तानियों को, उसकी दीनहीन अशक्त प्रजा को इस तरह ही देश से बाहर, लेकिन उसी के झण्डे तले, भयंकर अत्याचारों और अपमान का शिकार बनना पड़ता है।"

एक आश्चर्यजनक किन्तु सुखद तथ्य यह है कि केवल भारतीय जनमत ही नही, विद्यार्थी जी ने इस प्रसंग में विश्व जनमत जगाने का बार-बार प्रयत्न किया था। पराधीन भारत के एक प्रदेश यू० पी० के, एक औद्योगिक नगर कानपुर में, शासन तथा सम्पन्न वर्ग द्वारा त्याज्य उपेक्षित हिन्दी भाषा के एक पत्र 'प्रताप' का सम्पादक, भारत की भौगोलिक सीमाओं को तोड़कर हजारों मील की दूरी पर होने वाले जुल्मों के विरोध

मे अपनी आवाज बुलन्द कर रहा था। इस आवाज में विश्व की सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न साम्राज्यवादी ब्रिटिश सरकार को चुनौती दी जा रही थी, कठोर शब्दों में निन्दा की जा रही थी और समूचे यूरोप की विभेद नीति को धिक्कारा जा रहा था। अत्याचार करने वाली दक्षिणी अफ्रीकी गोरी सरकार पर वह सम्पादक पूरी शक्ति के साथ प्रहार कर रहा था। एक ओर वह अन्याय से लड़ने वाले प्रवासी भाईयों को पूरे ममत्व के साथ प्रोत्साहन दे रहा था तो दूसरी ओर अपने देश की विशाल हृदयता एवं उदारता पर उसका अटूट विश्वास प्रकट हो रहा था। "जिस तरह वह (भारतमाता) अपने ३१ करोड़ बच्चों को पालती है, उसी तरह हमारी माता अपने इन बच्चो को भी किसी न किसी तरह पालेगी।"

दक्षिणी अफ्रीका की निरंकुश अन्यायी सरकार को ललकारते हुए उसने लिखा था—"हृदय काँप उठता है और रोयें खड़े हो जाते हैं।" जब हम उस भयंकर अत्याचार के समाचारों को सुनते हैं "जो हमारे भाईयों पर दक्षिणी अफ्रीका में इस समय हो रहा है। दक्षिणी अफ्रीका की सरकार ने सभ्यता और मनुष्यता से नमस्कार कर लिया है। संसार के सभ्य राष्ट्रों के उन सारे साधारण भावों से, जिनसे एक सभ्य राष्ट्र कहला सकता है, अब उसे कोई सरोकार नहीं। उदारता, सज्जनता और सत्यता से उसने आँखें फेर ली हैं। अत्यन्त नीचता और पशुता पर वह उतर आई है।"

दक्षिणी अफ्रीका की सरकार द्वारा होने वाले अत्याचारों की ओर सारे विश्व का ध्यान आकृष्ट करने के लिए उन्होंने बराबर अपनी आवाज उठायी थी पर उस आवाज को कौन सुनता? अन्याय के नक्कार खाने में न्याय की तूती की आवाज कैसे सुनी जाती? इस स्थिति से क्षुब्ध होकर उन्होंने विश्व के समस्त सभ्य राष्ट्रों से प्रश्न किया था, जिसमें सार्थकता और तार्किकता दोनों थीं। उनका प्रश्न था। "यदि पाश्चात्य देश के किसी भी एक आदमी पर इस तरह के अत्याचार होते तो आज संसार रण हुँकारों से गूँज उठता। उस अत्याचार की भयंकर कहानियां संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल जाती और अन्त में अत्याचारी को वह दण्ड मिलता कि वह अपनी सारी उदण्डता सदा के लिए भूल जाता।....पर आज यूरोप, और तो और इंगलैण्ड ऐसे उदार और कर्तव्यशील देश के कान पर जूं तक नहीं रेंगती। मनुष्यता की देवी क्रूरता के इस भयंकर रूप और उनके मुकाबले में सभ्य समाज की इस कमजोरी से चकित है।"

(प्रताप, भीषण अत्याचार, २२ नवम्बर १९१३)

विश्व-भर का ध्यान आकृष्ट करने के साथ ही, उन्होंने तत्कालीन ब्रिटिश सरकार को विशेष रूप से अपने कर्तव्य पालन के लिए कई बार आगाह किया था। उन्हे इस विषय में ब्रिटिश सरकार की उदासीनता खलती थी। इससे खिन्न होकर उन्होंने अपने एक सम्पादकीय मे लिखा था। "बस, अब बहुत हो चुका, अब इम्पीरिअल (ब्रिटिश से आशय है) सरकार को अपने कर्तव्य और बल की सुध आना चाहिए। भारतवासी अफ्रीका आपसे नहीं गये थे। इम्पीरिअल सरकार ने भारत सरकार को

मजबूर करके उन्हें वहाँ भिजवाया था। आज उनकी यह दुर्दशा हो रही है।"

तत्कालीन भारत सरकार, इस समस्या को जिस तरह उपेक्षित कर रही थी, उस पर विद्यार्थी जी ने अपने लेखों में प्राय: आक्रोश व्यक्त किया था। इस सम्बन्ध मे वे उग्रता के साथ भारत सरकार की आलोचना करते थे, साथ ही विचारक के नाते अपने सुझाव भी रखते थे। इन सबके पीछे उनकी एकमात्र भावना थी, प्रवासी भाईयो के ऊपर होने वाले अत्याचारों को बन्द कराना। भारत सरकार को चेतावनी देते हुए उन्होंने लिखा था "भारत सरकार चेते। देश में दक्षिणी अफ्रीका के उस कोयले की जरूरत नहीं जिस पर हमें अपने भाईयों के खून के छीटे नजर आवें। हमारे देश का रुपया उन नर-पिशाचों की जेबों में न जाय, जो हमारे भाईयों का गला इस बेदर्दी के साथ घोंट रहे हैं। यदि भारत सरकार दक्षिणी अफ्रीका में हमारे भाईयों के इस संग्राम मे आर्थिक सहायता नहीं कर सकती, जो उसे करना चाहिए, जबकि वह देखती है कि उसकी प्रजा पर सरासर अत्याचार हो रहा है—और साथ ही यदि वह अपनी इस कमजोरी का कोई भी इलाज नहीं कर पाती, तो उसका परम कर्तव्य है कि वह हमारे सारे भाईयों को अपने खर्च से, दक्षिणी अफ्रीका से बुला ले।"

इस सुझाव के पाँच वर्ष बाद भी प्रवासी भारतीयों की स्थिति में विशेष सुधार नहीं हुआ। भारत के तत्कालीन वाइसराय लार्ड चेम्स फोर्ड के इस कथन पर "एकदम इस बुराई को नहीं उठा सकते" विद्यार्थी जी ने "लाट साहब की बातें" शीर्षक एक सम्पादकीय लिखा था। इसमें उन्होंने व्यंग्यपूर्वक अपना असंतोष प्रकट करते हुए ब्रिटिश नीति का यथार्थपरक निष्कर्ष भी प्रस्तुत किया था। उन्होंने लिखा था। "लार्ड चेम्स-फोर्ड साहब फिजी, ट्रिमिड्राड, गायना, जमैका के अधिकारियों की नेकनीयती और भलमनसाहत का बखान करते हुए फर्माते हैं कि उन्होंने भारतीय कुलियों की बहुत सी तकलीफों को दूर कर दिया है।...लाट साहब को इस सहानुभूति पूर्ण ढंग के लिए धन्यवाद देते हुए भी, हमें उनकी बातों से संतोष नहीं होता।...इन सब बातों का मतलब यह है कि वह सरकारी वचन जो लार्ड हार्डिंग्ज ने दिया था अभी कुछ वर्षों तक पूरा होता नही दीख पड़ता।...हमारी आत्म प्रतिष्ठा अवस्था की इस गति से सतुष्ट नही हो सकती।...इस प्रकार आपने जो शब्द कहे वे मीठे होते हुए भी निराशाजनक हैं।"

इन व्यक्त उद्‌गारों में, उनकी स्पष्टवादिता विवेकशीलता के साथ प्रवासी भारतीयों के लिए अत्यन्त गहरी संवेदनशीलता है। यह संवेदनशीलता और सम्मान भावना ही थी, जिसने प्रवासी बन्धुओं को देश में वापस बुलाने का सुझाव दिया था। तत्कालीन सत्ताधारियों द्वारा ऐसी बातों को बार-बार अनसुनी कर देने पर उन्होंने जिन कठोर शब्दों में ब्रिटिश साम्राज्य को धिक्कारा था वे आज भी अग्नि स्फुलिंग की तरह तेजस्वी तथा प्रकाशमय हैं। उन्होंने इस सन्दर्भ में इंगलैण्ड की चुप्पी पर उसके नैतिक मृत्यु की घोषणा की थी। उन्हीं के शब्दों में "उस इंगलैण्ड की, जिसने स्वतंत्रता और स्वत्व रक्षा के लिए विश्व प्रसिद्ध सपूत पैदा किये थे, जो स्वाधीनता के विकास की भूमि

समझा जाता है, जो सदा निर्बलों का पक्ष लेने और अत्याचार के मेटने के लिए विख्यात है, जिसने संसार से गुलामी की प्रथा उठा दी थी,···उस इंगलैण्ड के नैतिक साहस की, उस महान् शक्तिमयी मूर्ति की नैतिक मृत्यु हो गई।''

(प्रताप, ३० नवम्बर १९१३)

विद्यार्थी जी प्रवासी भारतीयों के सम्पूर्ण जीवन में रुचि रखते थे। उनके ऊपर होने वाले अत्याचारों पर दुःखी होना, आँसू बहाना, अथवा संवेदना दिखाकर संतोष कर लेना मात्र उनका कार्य नहीं था। उनकी दृष्टि सिर्फ दक्षिणी अफ्रीका के प्रवासियों तक ही सीमित नहीं थी। ब्रिटिश गायना, जमैका, मारीशस, फिजी, आदि सभी स्थानों के प्रवासी भारतीयों की समस्याओं पर बराबर उनकी नजर रहती थी। इन देशों में कुली के रूप में भेजे जाने वाले भारतीयों के अनुबन्ध, उनके आँकड़े, उन पर होने वाले विविध अत्याचारों की विस्तृत घटनायें, उनकी सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियाँ, इन सब पर 'प्रताप' में सामग्री छपती रहती थी। जब दक्षिणी अफ्रीका में, महात्मा गाँधी ने सर्व-प्रथम सत्याग्रह का प्रयोग किया तब 'प्रताप' ने अत्यन्त भावनापूर्ण शब्दों में गाँधी जी के प्रति श्रद्धा व्यक्त की थी। वह श्रद्धा हमें अपने राष्ट्रीय जीवन की कालिमापूर्ण निशा की दुःखद याद दिलाती है। उस समय 'प्रताप' संपादक ने गाँधी जी के विषय में लिखा था, ''चन्द्र के सामने राहु के (आशय अफ्रीका गोरी सरकार से है) छक्के छूट गये। न चन्द्र की ज्योति घटी और न तारों की (तारों से आशय प्रवासी भारतीयों से है)। हजारों नक्षत्रों में से शायद ही किसी ने टूटने का नाम लिया हो।···शत्रु भी सज्जनता के इतने कायल कि हथकड़ी भरे हुये हाथों और गठरी लादे हुये शहर से निकाले जाने पर गोरे ''नेटाल मरकरी'' के हृदय में भी न्याय की लहरों ने हिलोरे मारी थीं।''

अन्याय एवं निरंकुशता के विरुद्ध संघर्षशील प्रवासी भाईयों की संगठन शक्ति, सहनशीलता एवं साहस के लिये, विद्यार्थी जी के हृदय में सम्मान ही नहीं, गहरी स्नेह-भावना थी। पराधीन भारत का एक पराधीन संपादक, निर्धन भारत का एक गरीब पत्रकार, अभिशप्त भारत का एक संतप्त जनसेवी प्रवासी भाईयों के लिये उतना ही चिंतित, व्यग्र, संवेदनशील और दुःखी था, जितना वह भारतवासियों के लिये था। प्रवासियों के प्रत्येक संकट, समस्या एवं पीड़ा में उसका हृदय 'प्रताप' के माध्यम से उनके लिये उमड़ पड़ता। यह विचारणीय तथ्य है कि स्वतन्त्र भारत में भी प्रवासी भारतीयों के लिये संकट के अवसर आते रहे हैं। युगांडा, केनिया से लेकर इंगलैण्ड और श्री लंका तक में बसने वाले भारतीयों के निष्कासन का प्रश्न कितनी बार उपस्थित हुआ है। परिणामस्वरूप, राजनेताओं के वक्तव्य-प्रकाशन अथवा समाचार-प्रसारण के साथ विदेश विभाग के शीघ्र ध्यान देने के साथ प्रश्न की समाप्ति और कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है। वह आत्मीयता, वह बैचैनी, वह तत्परता, वह ललकार, वह प्रेरणा जो इस संपादक की दृष्टि और वाणी से मिलती है, आज क्षीण और धूमिल सी लगती है। संघर्षशील प्रवासी बन्धुओं के लिये पत्रकार विद्यार्थी जी ने हृदय खोलकर कहा था—''हमारा हृदय उन वीर पुरुषों और वीरा देवियों के लिये प्रेम और आदर से भरा है,

जो अपने देश और देशवासियों के नाम और नैसर्गिक स्वत्व के लिये इस बेजोड़ घोर संग्राम में अपूर्व साहस, दृढ़ता और शान्ति से काम ले रहे हैं।"

(प्रताप, प्रायश्चित की आशा, दिसम्बर १९१३)

प्रवासी भारतीयों के आन्दोलन, राजनीतिक गतिविधियों, सामाजिक क्रिया-कलापों का "वृत्तान्त" चिट्ठियों के रूप में 'प्रताप' में प्रकाशित होता था। किसी विशेष सन्दर्भ में विद्यार्थी जी अलग से टिप्पणी भी लिख देते थे। जब भी उन्हें प्रवासी भाईयों के आन्दोलन की सूचना मिलती वे बराबर उसके ऊपर ध्यान रखते। उन्होंने संघर्ष के लिये अग्रसर रहने के लिये निरन्तर इन बन्धुओं को प्रेरित एवं उत्साहित किया था। महात्मा गांधी द्वारा संचालित सत्याग्रह में भाग लेने पर उन्होंने प्रवासी भारतीयो के लिये जिन उद्गारों को प्रकट किया था, वे आज भी उतने ही प्रेरक हैं। उन्होंने लिखा था—"हमारे वीर भाई अपनी वीरता, धीरता और दृढ़ता की परीक्षा में पूरे उतरे हैं। उनकी इस तपस्या ने ऐसे आसन हिला दिये, जो हिलने का नाम तक न जानते थे। वीर माताओं और बहिनों के उत्साह और अच्छे प्रभाव ने मुर्दे हृदयों में जान डाली। दक्षिण अफ्रीका रूपी अग्निकुण्ड में हमारी बिखरी हुई कच्ची जाति तपाई गई, ठोकी गई और संसार अब आश्चर्य से देख रहा है कि उसका कच्चापन दूर हो गया। अब वह बिखरी हुई नहीं, पक्की है—और ऐसी पक्की जैसी संसार की कोई भी जाति।"

जिस कुली प्रथा के अन्तर्गत भारतीय इन सुदूर देशों में भेजे गये थे, उस पर अत्यन्त पीड़ा और आक्रोश व्यक्त करते हुये विद्यार्थी जी ने सिंहनाद किया था—"यदि हमारे प्रभु इसका अन्त करने से हिचकते और डरते हैं तो देश के शुभनाम और उसकी कीर्ति के लिये हमें इस प्रथा का गला घोंट देने में तनिक भी नहीं हिचकना चाहिये।" इस प्रथा के अन्तर्गत जाने वाले भारतीयों का आंकड़ा देते हुये उन्होंने विभिन्न अत्याचारी घटनाओं पर जन मानस के भावों का मार्मिक तथा प्रभावपूर्ण चित्र खींचा था। उनके अनुसार अभी तक "ब्रिटिश गायना में १३००, ट्रिनी डाड में २५००, जमैका में ९०० और फिजी में २५०० कुली भारतीय प्रतिवर्ष जाते हैं।"

फिजी में होने वाले अत्याचारों पर उन्होंने कई लम्बे सम्पादकीय लेख लिखे थे। पादरी एंड्रयूज के फिजी से लौटने पर, उनसे प्राप्त विवरणों के आधार पर विद्यार्थी जी ने जो गहन पीड़ा व्यक्त की, वह उस युग की सच्ची प्रतिध्वनि थी। उन्होंने लिखा था—

"पादरी एंड्रयूज फिजी गये थे।...उनके लेखों में कुली प्रथा की क्रूरता की जो कहानियाँ हैं, उन्हें पढ़कर कौन ऐसा सच्चा भारतीय होगा, जिसका चेहरा ग्लानि और रोष, लज्जा और क्रोध से जलने न लगे।...अपने भाई-बहनों के फुसलाये जाने, तंग और भ्रष्ट किये जाने और फिर औपनिवेशकों की गुलामी करने, अपने धर्म, नीति और आचरण से नमस्कार करके घोर निर्लज्जता और पतन की ओर लुढ़क जाने आदि की बातें पढ़ और सुनकर, वह आज भी अपने को भारतीय ही न कहे, जिसका रक्त दुःख और आवेश से खौलने न लगे।"

(प्रताप, २९ जनवरी १९१७)

अत्याचारों की इस शृंखला में उन्होंने एक घटना का दृष्टान्त दिया है। "युक्त प्रदेश (तत्कालीन यू० पी० अब उत्तर-प्रदेश) की एक भद्र कुल की महिला को तार मिला कि तुम्हारा पति बीमार है, जल्दी आओ। बेचारी चल दी। राह ही में भरती वालों के चंगुल में पड़ गई और कलकत्ते भेज दी गई। वह इतनी डर गई थी कि उसे किसी से कुछ पूछने-तांछने की हिम्मत ही न पड़ी। अन्त में उसे जहाज पर खड़ा कर दिया गया। जहाज पर उसके भ्रष्ट करने की कितनी ही चेष्टायें हुईं। अन्त में उसने एक बंगाली बाबू का, जो फिजी जा रहे थे, दामन पकड़ा। जहाज पर एक भलामानस कुली भी था। उसकी स्त्री भी उसके साथ थी। बाबू ने उस लड़की को इन दो स्त्री-पुरुष के आश्रय में रख दिया। फिजी पहुँचने पर ये सब लोग बिछुड़ गये। लड़की को बगीचे पर काम दिया गया। वहाँ उसकी इज्जत लेने की अनेक बार चेष्टायें की गईं परन्तु दिन-रात की इन आफतों और निराशाओं ने लड़की में मुकाबला करने की शक्ति उत्पन्न कर दी थी और वह बची रही। एक दिन तो वह अपनी इज्जत की रक्षा के लिये काम से भाग गई। अचानक उस बंगाली बाबू से भेंट हो गई। बेचारी बाबू के पैरों पर गिर पड़ी। अन्त में बाबू ने छुटकारा इसी में देखा कि उसके साथ अपना विवाह कर ले और खेत के स्वामी का रुपया भरकर उस बिचारी को गुलामी से छुड़ा दे।...क्या इस दशा को अच्छी कहा जाय? उसका घर-द्वार, पति छूट गया। आज भी वह अपनी पहली बातों के लिये रोती रहती है। यह एक घटना है। ऐसी घटनायें आज तक, यदि लाखों नहीं तो सहस्रों हो चुकी हैं।"

विद्यार्थी जी की दृष्टि में ये प्रवासी बन्धु उस समय ही अपने नहीं थे, सदा-सदा के लिये अपने बने रहेंगे। इस जनसेवी में उनके प्रति अनूठी आस्था थी। उन्हें विश्वास था कि किसी भी दुर्दशा, किसी भी परिस्थिति में ये भाई, अपने देश, अपनी संस्कृति, अपना धर्म, अपनी भाषा कदापि विस्मृत नहीं करेंगे। गुलाम भारत के ये गुलाम कुली, अशिक्षित, भारत के ये निरक्षर सपूत, चाहे जिस आग में तपाये जाँय, भारतीयता के अर्थ में उनका रंग कुन्दन की तरह बना रहेगा। उन्होंने जिस प्रवासी भाई की कल्पना सदैव की, वह शायद श्री केदारनाथ गुप्त की इन पंक्तियों में ही देखी जा सकती है—

मैं उसे खोजता हूँ, जो आदमी है।
चरित्र पर खड़ा, देवदार की तरह अड़ा।

इस कल्पना के कारण ही तो उन्होंने अन्याय के विरुद्ध संघर्षरत अपने भाईयों के लिये "देवासुर संग्राम" की अर्थवान संज्ञा दी थी। देवासुर संग्राम से चौदह रत्न निकले थे। इसी तरह इन प्रवासी भाईयों को भी उन्होंने रत्न माना था, केवल कोरे शब्दों से नहीं, भाव की अन्तहीन धारा में डूब कर, ममता के कोमल दूर्वादल की व्यंजना के साथ, नैवेद्य की उपासना वृत्ति के साथ। इस उच्च कल्पना, इन अनुरंजित भावों की छवि कैसी मोहक छवि इन पंक्तियों में दृष्टिगोचर होती है—

"सतयुग में देवासुर संग्राम के समय समुद्र मथा गया। १४ रत्न निकले। कलि-

युग में भी यह संग्राम पेश है।···रत्न निकले, और ऐसे, जिन पर किसी एक देश के देवता ही नहीं, संसार भर के देवता न्यौछावर हो जाँय। शक्ति की अनन्त राशियों ने पशुबल के सूखे जंगल में चिंगारी लगाने के लिये आत्मबल की ज्योतिर्मयी स्थिर दिव्य अग्निशिखा को जन्म दिया। प्राचीन भूमि! अभी इसकी उर्वरा शक्ति नष्ट नहीं हुई। ···अभी तेरी भूमि की मिट्टी में, हवा-पानी में वृत्रासुर के लिये दधीचि के पैदा करने की शक्ति है।''

ऐसे ''दधीचि'' तथा अन्य रत्नों की आभा प्रवासी भारतीयों में देखने की दूर दृष्टि विद्यार्थी जी की आस्था का कैसा ऐतिहासिक प्रतीक है। आज वैभव की खोज, लौकिक सुखों के मोह तथा अपने देश में प्रतिभा की उपेक्षा का मृगचर्म ओढ़कर विदेश मे ज्ञान-संन्यासी बनने वाले भले ही अपनी मातृभूमि, मातृभाषा, मातृसेवा से सम्बन्ध तोड लें किन्तु प्रवासी भारतीयों के प्रति व्यक्त की गई विद्यार्थी जी की आस्था को आज भी जीवित देखकर हमें उनके विश्वास पर आश्चर्य होता है। मारीशस, फिजी, सूरीनाम, और अफ्रीका में बसे हमारे प्रवासी भाईयों की ''गंगा व गोदावरी'' की भावना आज भी हमें रोमांचित और आह्लादित कर देती है। इन देशों की मधुर यात्रा करने वाले, विशेष रूप से मारीशस और फिजी के अपनत्व एवं ममता की रस वर्षा से भीगने वाले हमारे देशवासियों को निश्चित ही विद्यार्थी जी की आस्था का मूल्यांकन करना सहज है। हिन्दी के सुलेखक और भूतपूर्व सांसद शंकरदयाल सिंह की ऐसी ही स्वानुभूति यहाँ प्रस्तुत है, जिसे उन्होंने ''सुबह कहीं शाम कहीं'' नामक यात्रा संस्मरण में व्यक्त किया है। उन्हीं के शब्दों में—

''रात करे सन···न···न···
बहेला पवनवा हो···
हे भउजी तू भइया से कह दे
कर देस मोर गँवनवा हो।

मेरे कानों में समुद्र तट से जब यह आवाज आती है तो रोमांच हो जाता है। भारत से तीन हजार मीलों की दूरी पर मारीशस में हूँ।···समुद्र तट से लोकगीत की यह धुन मुझे विह्वल बना देती है। डेढ़-दो सौ साल पहले भारत से आने वाले इन निरीह प्राणियों ने कितने मानसिक कष्ट और शारीरिक यातनायें सहकर अपने धर्म, संस्कार और भाषा की रक्षा की होगी।''

केवल मारीशस ही नहीं फिजी तथा अन्य देशों के प्रवासी भाईयों ने लगभग पौन शती पूर्व विद्यार्थी जी द्वारा प्रकट की गई आस्था की प्राणपण से रक्षा की, भाषा, सस्कार, संस्कृति के रूपों में। कैसी विडम्बना है कि विद्यार्थी जी के देशवासी ही उनकी आस्था को खंडित कर बैठे। कम से कम जन-सेवा, संस्कृति और भाषा के अर्थ मे। तभी तो प्रथम हिन्दी सम्मेलन नागपुर की गोष्ठी में फिजी की तरुणाई के प्रतीक, हिन्दी-सेना के सशक्त प्रहरी, सुलेखक तथा फिजी शासन के माननीय मंत्री श्री विवेकानन्द शर्मा ने कहा था कि जिस हिन्दी-द्रौपदी के लिये भारत चीर नहीं दे सकता उस द्रौप

को हम प्रवासी चीर देकर उसकी लज्जा की रक्षा करेंगे ।

प्रवासी भारतीयों की सभी समस्याओं के लिये उन्हें स्वतंत्र भारत ही एक समाधान लगता था । स्वतंत्र भारत की आत्मा ही अपने बिछड़े अंग का स्पन्दन सुन सकती थी । अपने से दूर—बहुत दूर बसे हुये भाईयों और बहनों की पुकार पर स्वतंत्र भारत ही जान दे सकता था । इन भाईयों के रूप, मान एवं पीड़ा से तिलमिला कर विद्यार्थी जी स्वतंत्र भारत में युद्ध छेड़ देने तक की कल्पना करते थे । दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों पर होने वाले अत्याचारों की जाँच के लिये १९१४ मे एक कमीशन बैठा था । उसके प्रतिवेदन से असंतुष्ट और निराश होकर "कैसा निपटारा" शीर्षक संपादकीय मे विद्यार्थी जी ने लिखा था "यदि हमारा देश आज स्वतंत्र होता और यदि उस हालत में दूसरे देश हमारे साथ ऐसा व्यवहार करने का साहस करते तो उनसे हमारा स्वतंत्र देश युद्ध द्वारा निपटारा करता ।"

ये प्रवासी बन्धु, जो कनाडा से लेकर दक्षिणी अफ्रीका, फिजी, मारीशस, तथा रंगून, सिंगापुर से लेकर मलाया तक फैले हुए थे, इन सब की समस्याओं पर विद्यार्थी जी का ध्यान था । 'प्रताप' में अन्य देशों की चर्चा हो चुकी है । कनाडा, लंका और मलाया के भारतीयों की दुर्दशा पर भी 'प्रताप' ने कई बार लिखा था ।

(प्रताप, १४ दिसम्बर १९१३ तथा १२ फरवरी १९१७)

प्रवासी भारतीयों के ऊपर होने वाले अकथनीय अत्याचारों से निरन्तर संघर्ष करने का सन्देश विद्यार्थी जी की अनेक रचनाओं में सन्निहित है । जिस विकट संघर्ष, कठोर यंत्रणा की काली रातों में प्रवासी भारतीयों को मारीशस, फिजी, सूरीनाम, दक्षिणी अफ्रीका आदि देशों में निरन्तर जीना पड़ा, भारतीय मर्यादा तथा संस्कृति की रक्षा करनी पड़ी, उन सब के कारण विद्यार्थी जी ने बराबर इन बन्धुओं के लिये प्रशस्ति के 'स्वस्तिवाचन' कहे हैं । एक प्रसंग में उन्होंने ऐसे संघर्षरत भारतीयों को 'वीर' और 'सत्य प्रतिज्ञ' ही नहीं माना है वरन् "जिनके ऊपर संसार का कोई सभ्य से सभ्य देश गर्व कर सकता है" और "उनके पैरों की धूलि तक माथे पर चढ़ाने योग्य" आदि उद्‌गारों से प्रवासियों के पौरुष, संघर्षमूलक अविरत प्रवृत्ति तथा 'भारत प्रेम' का अभिनन्दन किया है ।

विद्यार्थी जी के ऐसे अभिनंदन स्वरों में प्रवासियों के उज्ज्वल भविष्य, तमसो-माज्योतिर्गमय की आकांक्षा, सत्य, न्याय की स्थापना एवं दासता से मुक्ति की अटूट आस्था रही है । दृढ़ आशा की इस उच्च भावना ने कितने प्रवासियों को प्रेरित किया होगा आज यह कहना कठिन है । हाँ, जिस मुक्ति की आस्था उन्होंने व्यक्त की थी, वह तो आज मारीशस, फिजी, सूरीनाम और ब्रिटिश गायना के स्वाधीन होने के रूप मे सत्य हो चुकी है । इसी प्रकार इन्हीं देशों में रहकर, अपने धर्म, संस्कृति, साहित्य तथा भाषा की रक्षा करते हुए, भारत की प्रतीक रचना का, जो सन्देश विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' के माध्यम से दिया था, वह भी वहाँ की जीवन धारा में, भारतीयों के एक सशक्त प्रवाह के रूप में, आज विश्व इतिहास में लिखा जा रहा है ।

जिस कालचक्र की चर्चा करते हुए उन्होंने प्रवासी बन्धुओं को उनके अतीत, उनके गौरव का स्मरण दिलाया था, जिस कालजयी शक्ति स्रोत से सम्बद्ध होने का संकेत दिया था, वह उद्गार तो आज भी प्रवासी भाईयों के लिए चिर नवीन है। आज से लगभग सत्तर वर्ष पूर्व विद्यार्थी जी ने प्रवासी भाईयों के लिए लिखा था—
"हम उन लोगों के साथ स्वर नहीं मिला सकते जिनके खयाल हैं कि संसार में हिन्दुस्तानियों के लिए कोई स्थान नहीं। हमारा अटल विश्वास है कि भारतवासियों की जो दुर्गति होनी थी सो हो चुकी।...शताब्दियों से हम ठोकें और पीटे जा रहे हैं। शताब्दियों से हमारे अस्तित्व पर इतने जोर-जोर से भारी हथौड़े पर हथौड़े पड़ रहे हैं कि कोई और होता तो अब तक उसका पता भी न चलता। कालचक्र की भयंकरता की हमारे सामने कुछ न चली। हम विश्व की उन्नति की ड्योढ़ी पर कुछ न कुछ सदा चढाते ही रहे इसलिए मुसीबतें हमारा कुछ न बिगाड़ सकीं। हमें विशेष चिन्ता नही। ...संसार भले ही उससे (प्रवासी भारतीयो से आशय है) मुख मोड़े, लेकिन कालचक्र उसे उदासी और निराशा से सिर नीचा कर लेने का सन्देश नहीं भेजता। वह सन्देश भेजता है कि समय आवेगा शीघ्र, जब काले और गोरे रंग, पाश्चात्य और पूर्वी देश के भेदभाव भरे हुए हृदय नहीं बल्कि मनुष्यता की देवी, आत्मशक्ति के कारण उसे हाथ पसार कर अपनी गोद में लेगी।"

(प्रताप, १४ दिसम्बर १९१३)

प्रवासी भारतीयों का अपमान विद्यार्थी जी के हृदय को सबसे अधिक आहत करता था। इसके मूल में साम्राज्यवादी और पूंजीवादी शोषक शक्तियाँ थीं। इन शक्तियों को उन्होंने "शैतान" शब्द से सम्बोधित किया था। इनके षड्यंत्र, दुश्चक्र और अवांछनीय कार्यवाहियों का उन्होंने बड़े पैमाने पर लगातार भंडाफोड़ किया था। उनके द्वारा घोषित प्रलोभनों तथा कृत्रिम सुविधाओं से सचेत रहने की वे चेतावनी देते रहते थे। तत्कालीन ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीयों को कुली बनाकर भारतीयों को भेजने की प्रक्रिया को उन्होंने मध्यकालीन गुलामों के व्यापार का नवीनीकरण कहा था। १६ फरवरी १९२० के 'प्रताप' में "शैतान बपतिसमा ले रहा है" शीर्षक एक लम्बा लेख उन्होंने लिखा था। इसमें उन्होंने बड़े विस्तार से इस व्यापार की भर्त्सना की थी। उन्होंने लिखा था—

"सन् १८३४ में ७००० अभागे भारतवासी "मिस्र" के टापू भेजे गये। फिर तो अन्य उपनिवेशों को भी भारतीय मजदूरों की आवश्यकता पड़ी। जमैका, ट्रिनीडाड, सेटलूसिया, ग्रनेड, नेटाल और फिजी आदि में भी भारतीय कुली भेजे जाने लगे। इस प्रकार गुलामों के व्यापार का यह नया रूप खूब फूला-फला।...इस कुली प्रथा के कारण संसार में भारतवर्ष का जितना अपमान हुआ उतना अपमान सभ्य संसार के इतिहास में शायद ही किसी जाति को सहना पड़ा हो।"

बाद में कुली प्रथा बन्द हो गई लेकिन कुछ वर्ष बाद ही जब ब्रिटिश सरकार ने उसे फिर से विविध सुविधाओं के साथ नये रूप में आरम्भ करना चाहा तब विद्यार्थी

जी ने इसका घोर विरोध किया और सार्वजनिक रूप से घोषित किया। "उसरे की जगह में हम तब तक जाने को तैयार नहीं हैं जब तक हमारी रक्षा का भार दूसरे हाथों से निकलकर हमारे हाथों में नहीं आ जाता।"

इन भाईयों के लिए भारत का द्वार सदा मुक्त रखने की मार्मिक अपील के साथ उन्होंने भावनात्मक सम्बन्ध का मधुर स्मरण कराया था। उनकी ऐसी ममता एवं अपनत्व की भावना इन पंक्तियों में रूपायित हुई थी—

"इस बेबसी और दीनता की हालत में भी हमारे प्रवासी भारतीय भाईयों के लिए देश में ही रूखी-सूखी रोटी मिल सकती है। भारत माता की गोद में उनके लिए उतना ही स्थान है जितना कि हमारे लिए।"

(प्रताप, १६ फरवरी १९२०)

परिशिष्ट

श्री गणेश शंकर विद्यार्थी

द्वारा

गोरखपुर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद से दिया गया अभिभाषण

श्रीमान् स्वागताध्यक्ष महोदय, देवियों और सज्जनों,

आज से उन्नीस वर्ष पहले, जब कि इस सम्मेलन का जन्म नहीं हुआ था और उसके जन्म के पश्चात् भी कई वर्षों तक, अपनी मातृभाषा का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करने के लिए हमें पग-पग पर न केवल संस्कृत, प्राकृत, शौर, सैनी, मागधी, सौराष्ट्री, आदि की छान-बीन करते हुए शब्द विज्ञान और भाषा विज्ञान के आधार पर यह सिद्ध करने की आवश्यकता पड़ा करती थी, हिन्दी भाषा संस्कृत या प्राकृत की बड़ी कन्या है, किन्तु बहुधा बात यहाँ तक पहुँच जाया करती थी और यह भी सिद्ध करना पडता था कि नानक और कबीर, सूर और तुलसी की भाषा का, बादशाह शाहजहाँ के समय जन्म लेने वाली उर्दू बोली के पहले कोई अलग गद्य रूप भी था। जिस भाषा में पद्य की रचना इतने ऊँचे दर्जे तक पहुँच चुकी हो, उसके सम्बन्ध में, इस बात की सफाई देना पड़े कि, उसका उस समय गद्य रूप भी था, इससे बढ़कर कोई हास्यास्पद बात नही हो सकती। इस देश में गद्य में लिखने का बहुत प्रचार नहीं था। बड़े-बड़े ग्रथ लिखे गये, पहले संस्कृत में, और फिर उसकी कन्या भाषाओं में, किन्तु वे अधिकांश पद्य में। ऐसा भासित होता है कि उस समय गद्य में लिखना हेय समझा जाता था। पद्य लिखने ही से विद्वता का अधिक परिचय प्रात हुआ करता था। अन्य देशों में भी, पहले पद्य लिखने ही की बहुत बड़ी परिपाटी थी। ग्रीस और रोम, ईरान और चीन मे प्राचीन काल में गद्यात्मक रचनायें भी हुई, किन्तु इनका उतना अधिक महत्व नही था, जितना पद्यात्मक रचनाओं का। इसी प्रकार भारतवर्ष में भी पद्यात्मक रचना का महत्व अधिक था। यह सम्भव है कि, अन्य देशों की अपेक्षा, यहाँ पद्यात्मक रचना और भी अधिक आवश्यक और गद्यात्मक रचना और भी अधिक अनावश्यक समझी गई हो। किन्तु पद्यों के बड़े से बड़े युग में भी गद्य का कोई मूल्य न रहा हो और उसका अस्तित्व नितान्त लोप हो गया हो, इस बात की कल्पना करना भी हास्यास्पद है।

मैं जो कुछ कहने वाला हूँ, वह केवल इतना ही है कि, राजनैतिक पराधीनता पराधीन देश की भाषा पर अत्यन्त विषम प्रहार करती है। विजयी लोगों की विजय

गति विजितों के जीवन के प्रत्येक विभाग पर अपनी श्रेष्ठता की छाप लगाने का सतत् प्रयत्न करती है। स्वाभाविक ढंग से विजितों की भाषा पर उनका सबसे पहले वार होता है। भाषा जातीय जीवन और उसकी संस्कृति की सर्वप्रधान रक्षिका है, वह उसके शील का दर्पण है, वह उसके विकास का वैभव है। भाषा जीती और सब जीत लिया। फिर कुछ भी जीतने के लिये शेष नहीं रह जाता। विजितों का अस्तित्व मिट चलता है। विजितों के मुँह से निकली हुई विजयी जनों की भाषा उनकी दासता की सबसे बड़ी चिह्नानी है। पराई भाषा चरित्र की दृढ़ता का अपहरण कर लेती है, मौलिकता का विनाश कर देती है, और नकल करने का स्वभाव बना करके उत्कृष्ट गुणों और प्रतिभा से नमस्कार करा देती है। इसीलिये जो देश दुर्भाग्य से पराधीन हो जाते हैं, वे उस समय तक, जब तक कि वे अपना सब कुछ नहीं खो देते, अपनी भाषा की रक्षा के लिये सदा लोहा लेते रहना अपना कर्तव्य समझते हैं। अनेक यूरोपीय देशों के इतिहास भाषा-संग्राम की घटनाओं से भरे पड़े हैं। प्राचीन रोम साम्राज्य से लेकर अब तक के रूस, जर्मन, इटैलियन, आस्ट्रियन, फ्रेंच और ब्रिटिश सभी साम्राज्यों ने अपने आधीन देशों की भाषा पर अपनी विजय वैजयन्ती फहराई। भाषा-विजय का यह काम सहज में नहीं हो गया। भाषा-समर-स्थली के एक-एक इंच स्थान के लिए बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ हुईं। देश की स्वाधीनता के लिए मर मिटने वाले अनेक वीर पुंगवों के समय में इस विचार का स्थान सदा ऊँचा रहा है कि देश की भौगोलिक सीमा की अपेक्षा मातृ भाषा की सीमा की रक्षा की अधिक आवश्यकता है। वे अनुभव करते हैं कि भाषा बची रहेगी तो देश का अस्तित्व, उसकी आत्मा बची रहेगी, अन्यथा फिर कहीं उसका कुछ भी पता न लगेगा। भाषा संबंधी सबसे आधुनिक लड़ाई आयरलैण्ड को लड़नी पड़ी थी। पराधीनता ने मौलिक भाषा का सर्वथा नाश कर दिया था। दुर्दशा यहाँ तक हुई कि, इने-गिने मनुष्यों को छोड़ कर किसी को भी मौलिक भाषा का ज्ञान न था। आयरलैण्ड के समस्त लोग यह समझने लगे थे कि अंग्रेजी ही उनकी मातृभाषा है और जिन्हें गैलिक आती भी थी, वे उसे बोलते लजाते थे। और कभी किसी व्यक्ति के सामने उसके एक शब्द का भी उच्चारण नहीं करते थे। आत्म-विस्मृति के इस युग के पश्चात्, जब आयरलैण्ड की सोती हुई आत्मा जागी, तब उसने अनुभव किया कि उसने स्वाधीनता तो खो ही दी, किन्तु उससे भी अधिक बहुमूल्य वस्तु उसने अपनी भाषा भी खो दी। गैलिक भाषा के पुनरुत्थान की कथा अत्यन्त चमत्कारपूर्ण और उत्साहवर्द्धक है। उससे अपने भाव और भाषा को विस्मरण कर देने वाले समस्त देशों को प्रोत्साहन और आत्मोद्धार का सन्देश मिलता है। इस शताब्दी के आरम्भ हो जाने के बहुत पीछे गैलिक भाषा के पुनरुद्धार का प्रयत्न आरम्भ हुआ। देखते-देखते वह आयरलैण्ड पर छा गई। देश की उन्नति चाहने वाला प्रत्येक व्यक्ति गैलिक पढ़ना और पढ़ाना अपना कर्तव्य समझने लगा। सौ वर्ष बूढ़े पर एक मोची से डी वेलरा ने युवावस्था में गैलिक पढ़ी और इसलिये पढ़ी कि उनका स्पष्ट मत था कि यदि मेरे सामने एक ओर देश की स्वाधीनता रखी जाय और दूसरी ओर मातृभाषा, और

मुझसे पूछा जाय कि इन दोनों में कौन सी लेंगे तो, एक क्षण के विलम्ब बिना मैं मातृभाषा को ले लूंगा, क्योंकि इसके बल से, मैं देश की स्वाधीनता भी प्राप्त कर लूंगा। राजनैतिक पराधीनता ने भारतवर्ष में भी उसी प्रकार जिस प्रकार, उसने अन्य देशों में किया, भाषा विकास के मार्ग में रोड़े अटकाने में कोई कमी नहीं की।

हिन्दी भाषा, जिसे सम्मेलन के मंच पर से स्वर्गीय पं० बदरी नारायण जी नागरी भाषा और स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानंद जी आर्य भाषा के नाम से पुकारना उचित समझते है, अंग्रेजी के कारण जितने घाटे में रही और अब तक है, उतने घाटे में वह शाही समय में न थी और यदि उसे स्वाभाविक वायुमण्डल मिलता, तो कभी न रहती। आगे इसी...शासन के आरम्भ में, फारसी अदालती भाषा थी। किन्तु अदालतों और उसकी भाषा से सर्वसाधारण का उस समय इतना संबंध नहीं था। अंग्रेजी शासन ने फारसी के स्थान पर उर्दू को अदालती भाषा का स्थान दिया। उस समय उर्दू का कोई विशेष और स्वतंत्र अस्तित्व न था। मुसलमान जिस हिन्दी को बोलते और लिखते थे, और जिसमें वे फारसी के कुछ शब्दों का भी प्रयोग करते थे, वही उर्दू थी। हिन्दी का उससे कोई संघर्ष नहीं था। उर्दू को उस समय पूरक भाषा का स्थान प्राप्त था। अर्थात् देश के जो लोग शुद्ध हिन्दी नहीं बोल सकते थे, वे भी फारसी के कुछ शब्दो और शक्लों को लेकर हिन्दी भाषा-भाषी थे। अंग्रेजी ने भारत में उर्दू को एक ऐसा स्थान देकर जो उसे पहले प्राप्त न था, हिन्दी और उर्दू के अर्थ के विवाह का सूत्रपात किया, और इस प्रकार बहु संख्यक हिन्दी भाषा-भाषी लोगों की सुविधा और विकास मे बाधा उपस्थित कर दी। इसका फल यह हुआ कि उर्दू देश की बोली, समझी और लिखी जाने वाली भाषा से, दूर की वस्तु हो गई। उसने अपने कोष को देश के भावों, शब्दों और वाक्यों से भरना छोड़ दिया, उसने हर बात में अपना रुख फारसी की तरफ किया, देश की भाषाओं की तरफ नहीं किया, देश की भाषाओं की ओर देखने की अपेक्षा उसने अंग्रेजी भाषा की ओर देखना तक अधिक आवश्यक समझा और हिन्दी भाषा-भाषियों को, दो भाषाओं का—एक उर्दू के बदले हुए रूप का और दूसरे अंग्रेजी का भारी बोझ व्यर्थ में पड़ गया। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उस समय उर्दू मे, अर्थात् अरबी अक्षरों में लिखे जाने और फारसी शब्दों से मिश्रित हिन्दी में यथेष्ठ साहित्य ग्रंथ और साहित्य सेवी वर्तमान थे, और सर्वत्र पढ़े-लिखे लोग इस प्रकार की भाषा को शिरोधार्य समझते थे। हिन्दी गद्य के खड़ी बोली में लिखे जान का सूत्रपात हो चुका था। लल्लूलाल मुंशी,..., सदल मिश्र, इंशा आदि की सुन्दर कृतियों का जन्म हो चुका था। आगे चल कर पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकता पडी और रामपुर में ईसाई पादरियों को अपने धर्म प्रचार की। इन दो-दो आवश्यकताओं की पूर्ति भी हिन्दी मे की गई। किन्तु सरकारी सहायता के कारण उर्दू हिन्दी से एक नितान्त अलग भाषा होती गई, और साथ ही अंग्रेजी का दबदबा दिन ब दिन बढ़ता ही गया। इसी कारण हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जन्म के पहले और उसके पश्चात् भी कुछ समय तक समय-समय पर हमें यह सिद्ध करने की आवश्यकता पड़ी कि हिन्दी भाषा का स्वतंत्र

अस्तित्व है, उसका अलग स्रोत और अलग विकास है, वह करोड़ों जनों की सोचने, बोलने और लिखने की भाषा है, और जो लोग उसकी अवहेलना करते हैं, वे देश मे करोड़ों व्यक्तियों और उनकी आवश्यकताओं और वाणी की अवहेलना करते हैं। अनेक मुखों से अनेक अवसरों पर यह बात कही गई ! यह संघर्ष उस समय था, जब गद्य रूप मे हिन्दी में कुछ भी नहीं था और उस समय भी था, जब कि उस रूप में यह कुछ था भी। और इस समय भी है जब कि गद्य और पद्य दोनों रूपों में अंग्रेजी शब्दो की भरमार होती है। कभी-कभी तो उनके वाक्यों का हिन्दी का परिचय केवल उनकी हिन्दी क्रियाओं ही से लगता है। यदि हमारे सुशिक्षित इस प्रकार भाषा को अनावश्यक और अपावन वर्ण संकरित न करें, अपने भावों को उसमें व्यक्त करना आवश्यक समझे तो कुछ ही समय में हमारी भाषा की ऊपरी कथित दरिद्रता दूर हो जाय और हिन्दी भाषा-भाषियों की शिक्षा और ज्ञान का मापदण्ड भी ऊँचा हो जाय। मराठी भाषा पर इसी प्रकार अंग्रेजी भाषा की चढ़ाई देख कर सुशिक्षित महाराष्ट्र सज्जनों की ऐसे परिषद् की स्थापना हुई थी जिसके सदस्य नित्य कुछ समय तक अंग्रेजी शब्दो और वाक्यों का प्रयोग नहीं करते थे और उनका स्थान शुद्ध मराठी प्रयोगों को देते थे।

संक्षेप में जो लोग हिन्दी को मातृभाषा मानते हैं, उनके सामने स्पष्ट ढंग से यह बात सदा रहनी चाहिये कि हिन्दी की जो उदार उन्नति हुई, वह उसकी आगामी बाढ के लिये कदापि पर्याप्त नहीं। हम समझ लें कि अब गाड़ी चलती जायेगी, वह रुकेगी नहीं, अब हमें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। हिन्दी की स्वाभाविक गति के लिये, तो अनेक बाधाओं को हटाने की आवश्यकता है किन्तु उन सब के दूर होने में तो अभी बहुत समय लगेगा। इस बीच मे कम से कम हम अवहेलना की बाधा को उपस्थित न होने दें और अचेत न हो जाँय, साहित्यिक ढंग से मातृभाषा के प्रचार और पुष्टि के लिये जहाँ और जिस प्रकार जो कुछ हो सके, उनका करना हम सबके लिये नितान्त आवश्यक है।

साहित्य की गति

हिन्दी साहित्य की गति इस समय किस ओर है और वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए उसे किस प्रकार का होना चाहिए, यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्व का है। पुराने समय में गद्य साहित्य की सृष्टि की ओर लोगों का विशेष ध्यान ही न था। उस समय का जो पद्य साहित्य है, यद्यपि उसका अधिकांश शृङ्गार और भक्ति रस ही का है, किन्तु है वह बहुत ऊँचे ढंग का, और संसार के अनेक देशों के समकालीन साहित्य से तुलना में बहुत अच्छा ठहर सकता है। इधर लगभग एक शताब्दी के भीतर हिन्दी साहित्य के रूप और रंग में पहले से बहुत अन्तर पड़ गया है—न गद्य का वह रूप है और न पद्य का नितान्त वैसा ही। जिस समय ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरक्षता में हिन्दी गद्य की कुछ पुस्तकें लिखी गईं, लगभग उस समय के कुछ उपरान्त से ही हिन्दी के

सेवकों को हिन्दी अक्षरों की रक्षा और हिन्दी भाषा और साहित्य की स्वतंत्र सत्ता की स्थापना करने के काम ही में अपनी शक्ति लगानी पड़ी। इस अवसर पर हिन्दी के गद्य-आकाश में कितने ही देदीप्यमान नक्षत्र उदय हुए। यदि उस समय बाबू हरिश्चन्द्र, राजा शिवप्रसाद, पं० बदरी नारायण चौधरी, पं० प्रताप नारायण मिश्र, पं० अम्बिकादत्त व्यास, और अन्य अनेक महान् आत्माओं ने अपनी प्रतिभा और ओज के बल से हिन्दी की जड़ न जमाई होती, तो इस समय हम सबको हिन्दी के उद्धार के लिये कदाचित् उसी प्रकार प्रयत्नशील होना पड़ता, जिस प्रकार नवजीवन के उदय होने पर आयरलैण्ड को अपनी खोई हुई भाषा और साहित्य को खोज निकालने के लिये होना पडता था। साहित्य-पथ के उन दृढ़ निश्चयी अग्रसेवियों के समय के पश्चात् हिन्दी भाषा और साहित्य की ओर सामाजिक, धार्मिक और शिक्षा सम्बन्धी आन्दोलनों के कारण देश के अंग्रेजी-पठित समाज का ध्यान गया और हिन्दी पढ़ने और हिन्दी लिखने मे उन्हें पहले जो संकोच हुआ करता था, वह मिट गया। यह समय हिन्दी में विविध विषयों पर पुस्तकें न निकलने का समय था। इस युग में अनुवादों की बाढ़ आई, और जो कुछ लिखा गया वह विशेषाध्ययन या विशेष ज्ञान द्वारा बहुत कम लिखा गया। एक साहित्य सेवी मित्र का तो कथन यहाँ तक है कि इन नवागन्तुक साहित्य प्रेमियों ने कुछ समय तक अपनी लेखन शैली से भाषा और व्याकरण की ऐसी हत्या की कि, कुछ न पूछिये, और यदि, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' में अपनी खरी आलोचना द्वारा इन साहित्यकों को भाषा और व्याकरण के सम्बन्ध में ठीक रास्ते पर न लगा लें, तो बहुत समय तक, हिन्दी के क्षेत्र में बड़ी अस्त-व्यस्तता रहती। अब इस समय, हिन्दी में पहले का सा दारिद्रय नहीं है, अनेक विषयों पर पुस्तकें और निबन्ध लिखे जाने लगे हैं।

कविता मानवीय भावनाओं का साहित्य रूप है। उसमें और गद्य मे कुछ अन्तर तो अब तक चला ही आता था, और उसकी मनोहरता के लिये आवश्यक है कि वह बहुत स्वतन्त्र होती हुई भी स्वर और मात्राओं के बन्धनों में बँधी रहे।

सज्जनों, हिन्दी साहित्य के एक विशेष अंग पर भी मुझे अपना कुछ मत प्रकट करना आवश्यक जँचता है। इस समय घासलेटी साहित्य की चर्चा बहुत जोरों से उठ रही है। मुझे इस बात के बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि घासलेटी साहित्य किस प्रकार के साहित्य को कहते हैं। जो साहित्य यथार्थ में सार्वजनिक कुरुचि की वृद्धि करने वाला है, वह निःसन्देह त्याज्य और भर्त्सनीय होगा, उसके अस्तित्व और वृद्धि का अन्त सहज नहीं है। मेरी धारणा तो यह है कि हमें उससे तनिक भी घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। वह किस देश में और किस भाषा में नहीं है। जिस प्रकार से शरीर में अनेक सुन्दर अवयवों और शक्तियों के होते हुए उसमें मलमूत्र ऐसे गन्दे पदार्थ भी होते हैं, उसी प्रकार, साहित्य भी होता है। इस प्रकार का साहित्य कहीं भी भद्र समाज में आदरणीय या ग्राह्य नहीं समझा जा सकता। बस, इस साहित्य के प्रति आपकी ऐसी ही भावना यथेष्ट है। इससे अधिक इसके पीछे हाथ धोकर पड़ने

में, मेरी विनम्र सम्मति में, हानि होगी। मानव स्वभाव बहुत दुर्बल हुआ करता है। बुराई की ओर वह बहुत झुकता है। आपका हाथ धोकर पीछे पड़ना इस प्रकार के साहित्य को विज्ञापन करना होगा। इस प्रकार उसे आप साधारण लोगों में और भी अधिक प्रचलित करेंगे। पैसे के लाभ के लिये कला और विज्ञान से शून्य इस प्रकार के साहित्य की रचना और प्रकाशन करने वालों को छोड़ कर, एक विशेष श्रेणी के साहित्य सेवी ऐसे भी हैं जो लोक कल्याण या रचना कला की दृष्टि से, जो बात जैसी है, उसका ही चित्र खींचना आवश्यक समझते हैं। इसे वे प्रकृतिवाद के नाम से पुकारते हैं, अपनी शैली को कल्याण पूर्ण होने के प्रमाण में, वे पाश्चात्य देशों के बहुत से धुरन्धर साहित्यिकों के नाम पेश करते हैं। फ्रान्सीसी कहानी लेखक मोपांसा का नाम इस सम्बन्ध में बहुत लिया जाता है। इस सम्बन्ध में, मेरा विनम्र निवेदन यह है कि प्रकृति-वाद के सम्बन्ध में कुछ भ्रमात्मक धारणायें प्रचलित हो गई हैं। फ्रान्स के प्रसिद्ध साहित्य-सेवी अनातोले भी प्रकृतिवादी थे। उनका ही यह कथन था कि किसी घटना का तद्वत् चित्र खींचने के लिये, या किसी मनोभाव को तद्वत् प्रदर्शित करने के लिये नेत्र और हृदय खोल कर उस प्रकार की घटनाओं या भावों में या उनके अत्यन्त निकट से निकलने की आवश्यकता है, और कितने व्यक्ति हैं जो साहित्य क्षेत्र में अपने प्रकृतिवाद का प्रदर्शन करने के पहले ऐसा कर चुके हैं। बहुधा होता यह है कि लेखक के मस्तिष्क में जो कलुषित भाव ऊपर ही रक्खे होते हैं, प्रकृतिवाद की आड़ मे वह उन्हीं को अपनी कृति में प्रदर्शित कर दिया करता है।

प्रचार और उन्नति के कुछ उपाय

हिन्दी के प्रचार और उन्नति के लिए, पहले के सहज और स्वाभाविक ढंग की अपेक्षा अब अधिक क्रमबद्ध शैली को ग्रहण करने की आवश्यकता है। एक भाषा और राष्ट्र भाषा के रूप में हिन्दी इस समय जिस स्थान पर पहुँच चुकी है, वहाँ से उसका सतत आगे बढ़ सकना उसी समय संभव है, जब उसके प्रचार और उन्नति के लिये नये और अधिक व्यापक साधनों से काम लिया जाय।

आज हिन्दी के प्रचार का सबसे बड़ा साधन है हिन्दी प्रान्तों में लोक शिक्षा को आवश्यक और अनिवार्य बना देना। कोई घर ऐसा न रहे जिसके नर-नारी और बच्चे-बूढ़े तक तुलसीकृत रामायण और साधारण पुस्तकें और समाचार पत्र न पढ़ सकें। यह काम उतना कठिन कदापि नहीं है, जितना कि समझा जाता है। यदि टर्की में कमाल पाशा बूढ़ों और बच्चों तक को थोड़े से समय के भीतर साक्षर कर सकते हैं और सोवियत शासन दस वर्ष के भीतर रूस में अशिक्षा का दीवाला निकाल सकता है, तो इस देश में भी, सब प्रकार की शक्तियाँ जुट कर, बहुत थोड़े समय में, अविद्या के अन्धकार का नाश कर प्रत्येक व्यक्ति को पढ़ने और लिखने के योग्य बना सकती हैं।

हम जितनी साक्षरता बढ़ावेंगे, उतना ही भाषा और साहित्य का कल्याण

होगा। जब करोड़ो साक्षर बन जायगे, तब उनकी बौद्धिक आवश्यकताओं की प्रेरणा से हिन्दी भाषा और साहित्य के सौष्ठव में स्वतः बहुत वृद्धि हो जायेगी।

लोक शिक्षा के काम में हिन्दी समाचार-पत्रों से बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है। यदि वे इस आन्दोलन को आन्दोलन के ढंग से उठा लें और अपने कलेवर मे साधारण आदमियों के नित्य के जीवन और नित्य की आवश्यकताओं का अधिक सजीव चित्रण करें तो वे निःसन्देह अधिक लोकप्रिय होंगे और अपना प्रचार बढाते हुए देश के करोड़ों आदमियों की सुषुप्त बुद्धि के जागरण और हिन्दी के कहीं अधिक प्रचार का श्रेय प्राप्त करेंगे।

आज जिन क्षेत्रों में हिन्दी को स्थान मिल चुका है, या जहाँ उसका स्थान मिलना और न मिलना, दोनों एक समान है, वहाँ उसका प्रसार बढ़ाने और उचित स्थान की प्राप्ति के लिये पूरा यत्न करना आवश्यक है। सरकारी और अर्ध सरकारी कार्यों और स्कूलों में, अब भी, हिन्दी को उचित स्थान प्राप्त नहीं है। मातृभाषा को पाठ्यक्रम में क्या स्थान मिलना चाहिये, इस दृष्टि से स्कूली पुस्तकों में बहुत-सी त्रुटियाँ हैं।

देश के अन्य प्रान्तों में हिन्दी का जो काम हो रहा है, वह तो बढ़ेगा ही। हमें विदेशों में अपने भाइयों के पास भी अधिक बल के साथ हिन्दी का सन्देश भेजना चाहिये, वहाँ अपने आदमियों में हिन्दी ही का एकक्षत्र राज्य था, किन्तु अब, दशा बदलती जाती है, और ऐसा भाषित होता है कि मातृभाषा के विस्मरण के साथ ही वे देश और उसकी संस्कृति का भी विस्मरण कर बैठेंगे। अमेरिका, अफ्रिका, फीजी, ट्रियाना, बर्मा, आदि में अपने भाइयों तक हिन्दी का सन्देश पहुँचाना भारतवर्ष की संस्कृति की रक्षा करना है। युवकों को इस काम के लिये आगे बढना चाहिये। वे किसी प्रकार भी घाटे में न रहेंगे। वे इस प्रकार हिन्दी और देश की सेवा कर सकेंगे, और संसार-भ्रमण करके अपने मानसिक क्षितिज को भी अधिक विस्तृत कर सकेंगे।

हिन्दी में अच्छे और आवश्यक ग्रथों के लिखने और प्रकाशित करने के लिये भी संगठित प्रयत्न होना चाहिये। हिन्दी विद्वानों की सुसंगठित मंडली सदा भाषा और साहित्य के क्षेत्र की त्रुटियों पर विचार करे। यह सम्भव नहीं है कि कोई भी मंडली सब प्रकार की पुस्तकों को लिखे या प्रकाशित कर सके। इसलिये इस प्रकार की मंडली लेखकों और प्रकाशकों से सम्बन्ध स्थापित करे। जिन विषयों पर लिखे जाने की आवश्यकता हो, उन पर लिखने के लिये लेखकों और प्रकाशित करने के लिए प्रकाशकों को उत्साहित करे।

सद् साहित्य की वृद्धि के लिये साहित्य-मंडली प्रकाशित होने वाले ग्रंथों के विषय की आलोचना-प्रत्यालोचना भी करे। अनुवाद का काम बेसिर पैर का हो रहा है। अनावश्यक और व्यर्थ के अनुवाद अपने आप समाप्त हो जायेंगे, किन्तु यदि सुविज्ञ जन समय-समय पर उन पर अपना मत प्रकट किया करें तो बहुत-सा श्रम और शक्ति की बचत हो जाय। किसी समय बंगला से अनुवाद की झड़ी लगी थी, अंग्रेजी से हम

बहुत कुछ लेते हैं। व्यर्थ की वस्तु कहीं से भी लेने की आवश्यकता नहीं है। अच्छी को कहीं से छोड़ना भी नहीं चाहिये। विदेशी भाषाओं में केवल अंग्रेजी को अपना आधार मान बैठने के कारण हमने अपनी दृष्टि को बहुत संकुचित बना लिया है और हम ससार भर की वस्तुओं को केवल अंग्रेजी चश्मे से देखने लगे हैं। अंग्रेजी में जो कुछ नही है उसे हम नहीं जानने पाते। उसमें जो कुछ तोड़ा-मरोड़ा हुआ है उसे हम उसी प्रकार के विस्तृत रूप में देखते हैं। अंग्रेजी और बंगला के शब्दों और वाक्यों की हिन्दी पर बहुत छाया पड़ी है। मैं अन्य भाषाओं से कुछ भी लेने, शब्दों और वाक्यों के लेने तक, के विरुद्ध नही हूँ। किन्तु अपनी भाषा के व्यक्तित्व की रक्षा का विचार रखते हुए, मैं कुछ लेना चाहता हूँ, उसे खोकर नहीं। अपने अनुवादकों को विदेशी भाषाओं में फ्रेंच और जर्मन भाषा के भण्डार तक पहुँचने का यत्न करना चाहिये। घर में हमें संस्कृत, पाली और उर्दू की ओर भी दृष्टि डालना चाहिये। संस्कृत और पाली के अनेक ग्रंथ और उनका पौराणिक बौद्ध और जैन साहित्य हिन्दी के रूप में आकर हमारे बौद्धिक जीवन के लिए बहुत श्रेयस्कर हो सकता है।

कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर को विश्व भारती संस्था के कारण हमें प्राचीन विशाल भारत के दर्शन होते जा रहे हैं। वह अत्यन्त दिव्य है। वह अत्यन्त गौरवान्वित करने वाली है।

नागरी लिपि पर जो आक्रमण हो रहे हैं, उनसे भी इसकी रक्षा के लिये यत्न होना चाहिये। पहले तो हिन्दी को राष्ट्रभाषा माना जाना ही कठिन रहा, किन्तु अब जब यह कठिनाई नहीं रही तब रोमन अक्षरों की श्रेष्ठता और सुविधा प्रकट करके देश के काम में उनके व्यवहृत किये जाने की बात उठाई जा रही है।

नागरी लिपि सर्वथा दोष शून्य नहीं है, और हिन्दी के टाइप में तो सुविधा और शुद्धता की दृष्टि से बहुत से सुधार वांछित हैं, किन्तु केवल इन त्रुटियों के कारण देश और राष्ट्र पर गौरव करने वाले किसी व्यक्ति के मन में रोमन लिपि ऐसी दोषपूर्ण और परदेशी वस्तु पर लोट-पोट नहीं हो जाना चाहिये। रोमन लिपि का सबसे बडा आकर्षण यह कहा जाता है कि उनके द्वारा हम संसार के और भी निकट हो जायेगे और उनकी बहुत-सी समान सुविधाओं से लाभ उठाने वाले बन जायेंगे किन्तु स्वतंत्र अस्तित्व को मिटा देने वाले, इस मोह के कारण हम अपनी इस आशा और विश्वासो को क्यों छोड़ दें कि ३२ करोड़ आदमियों की लिपि से संसार एक दिन परिचय प्राप्त करने और उसे विशेष स्थान देने के लिये लालायित होगा।

मुझे तो वह दिन दूर दिखाई नहीं देता जब हिन्दी साहित्य अपने सौष्ठव के कारण साहित्य-जगत् में अपना विशेष स्थान प्राप्त करेगा और हिन्दी भारतवर्ष ऐसे विशाल देश की राष्ट्र भाषा की हैसियत से, न केवल एशिया महाद्वीप के राष्ट्रों की पंचायत में एक साधारण भाषा के समान केवल बोली भर जायगी किन्तु अपने बल से संसार की बड़ी समस्याओं पर भरपूर प्रभाव डालेगी और उसके कारण अनेक अन्त-र्राष्ट्रीय प्रश्न बिगड़ा और बना करेंगे। संसार की अनेक भाषाओं के इतिहास धमनियो

मे बहने वाले ठण्डे रक्त को उष्ण कर देने वाली उन अगणित घटनाओं से भरे पड़े हैं, जो उनके अस्तित्व की रक्षा के लिये घटित हुई । फ्रांस की किरचों की नोक छाती पर गड़ी हुई होने पर भी सर प्रान्त के जर्मनी ने अपनी मातृभाषा के न छोड़ने की दृढ प्रतिज्ञा की, और उसका अक्षर-अक्षर पालन किया । कनाडा के फ्रांसीसी का अपनी मातृभाषा के लिये प्रयत्न करना किसी समय अपराध था, किन्तु घमंडी मनुष्यों के बनाये हुए इस कानून का मातृभाषा के भक्तों ने सदा उल्लंघन किया । इटली, आस्ट्रिया के जीते हुए प्रदेशों के लोगों के गले के नीचे जबर्दस्ती अपनी भाषा चाहती थी, किन्तु वह अपनी समस्त शक्ति से भी मातृभाषा के प्रेमियों को न दबा सकी ।

दक्षिण अफ्रीका के जेनरल बोथा ने केवल इस बात को सिद्ध करने के लिये कि न उनका देश विजित हुआ और न उनकी आत्मा ही, बहुत अच्छी अंग्रेजी जानते हुए भी, बादशाह जार्ज से साक्षात् होने पर अपनी मातृभाषा डच में बोलना ही आवश्यक समझा और एक दु-भाषिया उनके तथा बादशाह के बीच काम करता था । यद्यपि हिन्दी के अस्तित्व पर अब इस प्रकार के खुले प्रहार नहीं होते, किन्तु उन ढंके-मुंदे प्रहारों की कमी भी नहीं है, जो उस पर और इस प्रकार देश की सुसंस्कृति पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं । साहस के साथ और उस आत्मविश्वास के साथ, जो हमे हिन्दी भाषा और उसके साहित्य के परमोज्ज्वल भविष्य पर है, हमें इस प्रकार के प्रहारों का सामना करना चाहिये और जितने बल और क्रियाशीलता के साथ हम ऐसा करेंगे, जितनी द्रुतगति के साथ हम अपनी भाषा की त्रुटियों को पूरा करेंगे और उसे ३२ करोड़ व्यक्तियों की राष्ट्र भाषा के समान बलशाली और गौरवयुक्त बनावेगे, उतना ही शीघ्र हमारे साहित्य-सूर्य की रश्मियाँ दूर-दूर तक समस्त देशों में पड़ कर भारतीय संस्कृति, ज्ञान और कला का सन्देश पहुँचावेंगी, उतने ही शीघ्र भाषा में दिये गये भाषण संसार की विविध रंगस्थलियों में गुंजरित होने लगेंगे और उनसे मनुष्य जाति मात्र की गति-मति पर प्रभाव पड़ता हुआ दिखाई देगा ।